

श्रीमद् भगवद्गीता
भूमिका, संस्कृत के शब्द-विच्छेदित मूल श्लोक, हिन्दी गद्य
अनुवाद (श्लोकार्थ), श्री गीता जी की महिमा, भगवान
श्रीकृष्ण का अंतिमसंदेश, तथा १६१ महत्त्वपूर्ण
श्लोकों को हाईलाइट किया गया है.

रामानन्द प्रसाद, पीएच.डी.

<https://www.gita-society.com/text-page-multimedia/> <<Gita Audio

विषय सूची

२. ब्रह्मविद्यायोग	ब
अर्जुन द्वारा युद्ध विरोधी तर्कों को चालू रखना	ब
आत्मा और शरीर के ज्ञान के साथ गीता के उपदेशों का प्रारम्भ	ब
आत्मा नित्य है, शरीर अनित्य है	ब
मृत्यु और आत्मा का पुनर्जन्म	ब
श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को उसके कर्तव्यों का स्मरण कराना	ब
कर्मयोग, अर्थात् निष्काम कर्म का महत्त्व	ब
वेदों का विषय भौतिक और आध्यात्मिक जीवन के दोनों पहलू है	ब
कर्मयोग का सिद्धान्त और व्यवहार	ि
आत्मज्ञानी के लक्षण	ि
अनियन्त्रित इन्द्रियों के दुष्परिणाम	ी
३. निष्काम-कर्म का मार्ग	द
दूसरों की सेवा क्यों?	द
पारस्परिक सहयोग विधाता का पहला निर्देश	द
नेता उदाहरण बनें	द
सभी कर्म प्रकृति करती हैं	द
पूर्णता के मार्ग में दो बाधाएं	द
काम पाप का मूल है	द
काम पर विजय कैसे पाएं	द
४. ज्ञानमय संन्यासयोग	द
कर्मयोग पुरातन विस्मृत निर्देश है	द
प्रभु के अवतार का उद्देश्य	द
प्रार्थना और भक्ति का मार्ग	द
सकाम, निष्काम, और निषिद्ध कर्म	द
कर्मयोगी को कर्म-बन्धन नहीं	द
यज्ञ के विभिन्न प्रकार	द
ज्ञानयोग श्रेष्ठतर आध्यात्मिक अभ्यास है	द
कर्मयोगी को स्वयं ही ज्ञान की प्राप्ति	द
ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों ही मोक्ष के लिए अनिवार्य	द
५. संन्यास का मार्ग	द
दोनों मार्ग परमात्मा की ओर ले जाते हैं ज्ञान	द
कर्मयोगी प्रभु के लिए काम करता है	द
आत्मज्ञान का मार्ग	द
आत्मज्ञानी के अन्य लक्षण	द
तीसरा मार्ग— भक्तिमय ध्यानयोग	द
६. ध्यानयोग	द
कर्मयोगी भी संन्यासी है	द
योग और योगी की परिभाषा	द
मन श्रेष्ठतम मित्र, और सबसे बड़ा शत्रु भी	द
ध्यान के तरीके	द
योगी कौन?	द
चंचल मन को नियन्त्रित करने के दो उपाय	द
असफल योगी की गति	द
श्रेष्ठतम योगी कौन ?	द
७. ज्ञान-विज्ञानयोग	द
प्रकृति, पुरुष, और आत्मा की परिभाषा	द
परमात्मा सब वस्तुओं का आधार	द
भक्ति के किसी भी वांछनीय रूप की मूर्ति में प्रभु का दर्शन	द
८. अक्षरब्रह्मयोग	द
ब्रह्म, आत्मा, जीवात्मा और कर्म की परिभाषा	द
पुनर्जन्म का सिद्धान्त और कर्म	द

प्रभु-प्राप्ति का एक सहज मार्ग	दृद्य
मृत्युकाल में प्रभु के ध्यान से मोक्ष-प्राप्ति	दृद्य
ध्यान की एक सहज विधि.....	दृद्य
सृष्टि में सब कुछ आवर्ती है	दृद्य
संसार से जाने के दो प्रमुख मार्ग	दृद्र
आत्मज्ञान से ही मुक्ति	दृद्र
९. ज्ञान का गूढ़ रहस्य	दृद्र
सृष्टि-रचना और प्रलय का सिद्धान्त	दृद्र
ज्ञानी और अज्ञानी के मार्ग	दृद्र
सब कुछ परमात्मा का ही विस्तार है.....	दृद्र
अनन्यभक्ति द्वारा मोक्ष प्राप्ति .िद्वद्व	द्वी
कोई अक्षम्य पापी नहीं	द्वी
भक्तिमार्ग अन्य मार्गों से सहज	द्वी
१०. परमात्मा का विस्तार	द्वी
परमात्मा सब वस्तुओं का मूल है.....	द्वी
प्रभु भक्तों को ज्ञान देता है	दृद्र
ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप कोई नहीं जान सकता	दृद्र
सम्पूर्ण सृष्टि परब्रह्म का विस्तार है.....	दृद्र
दैवी विभूतियों का संक्षिप्त वर्णन	दृद्र
सृष्टि परब्रह्म का लघुतम अंश मात्र है	दृद्र
११. परमात्मा का विराटरूप	दृद्र
प्रभुदर्शन भक्त का परम ध्येय	दृद्र
श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को विराट् विश्वरूप का दर्शन कराना.....	दृद्र
प्रभुदर्शन के सब योग्य नहीं, न सब दीक्षित	दृद्र
विराट् विश्वरूप दर्शन से अर्जुन को भय	दृद्र
हम सब दैवी निमित्त मात्र	दृद्य
अर्जुन द्वारा विश्वरूप की वन्दना.....	दृद्य
प्रभु के साकार रूप का दर्शन सम्भव है	दृद्र
अनन्यभक्ति द्वारा प्रभुदर्शन	दृद्र
१२. भक्ति का मार्ग	दृद्र
साकार की उपासना करें या निराकार ब्रह्म की?.....	दृद्र
साकार की उपासना के कारण.....	द्वी
ईश्वर-प्राप्ति के चार मार्ग	द्वी
कर्मयोग का सरल और सर्वोत्तम मार्ग	द्वी
भक्त के लक्षण	द्वी
व्यक्ति निष्ठापूर्वक दैवी गुण पाने का यत्न करे	द्वी
१३. सृष्टि और सृष्टा द्वी	द्वी
सृष्टि-सिद्धान्त.....	द्वी
निर्वाण-साधन के रूप में चतुर्विध आर्षसत्य	द्वी
दृष्टान्त कथा द्वारा ही प्रभु का वर्णन सम्भव	दृद्र
पुरुष, प्रकृति, आत्मा, और परमात्मा का वर्णन	दृद्र
विश्वास भी मोक्ष का मार्ग	दृद्र
ब्रह्म के लक्षण	दृद्र
१४. प्रकृति के तीन गुण	दृद्र
पुरुष प्रकृति संयोग से सब प्राणियों की उत्पत्ति	दृद्र
प्रकृति के गुण ही आत्मा को शरीर से बांधते हैं	दृद्र
प्रकृति के तीन गुणों के लक्षण	दृद्र
त्रिगुण ही आत्मा के पुनर्जन्म के वाहक हैं	दृद्र
गुणातीत होने पर मोक्ष	दृद्र
गुणातीत होने की प्रक्रिया	दृद्र
अनन्य भक्ति द्वारा गुण-बन्धनों को काटना सम्भव	दृद्र
१५. पुरुषोत्तमयोग	दृद्र
सृष्टि माया की शक्ति से उत्पन्न वृक्ष के समान.....	दृद्र
मोह-वृक्ष को काटने और प्रभु-शरण से मोक्ष-प्राप्ति कैसे ?	दृद्र
जीवात्मा भोक्ता है.....	दृद्र
ब्रह्म सब वस्तुओं का सार है	दृद्र
क्षर, अक्षर और अक्षरातीत क्या हैं ?	दृद्य
१६. दैवी और आसुरी स्वभाव	दृद्य
मोक्ष के लिए अर्जित प्रमुख दैवी गुणों की सूची	दृद्य
आध्यात्मिक यात्रा से पहले त्याज्य आसुरी गुणों की सूची.....	दृद्य
केवल दो प्रकार के मानव, ज्ञानी और अज्ञानी	दृद्र
अज्ञान का फल है दुःख.....	दृद्र
काम-क्रोध-लोभ नरक के तीन द्वार	दृद्र
शास्त्रीय विधान का पालन अनिवाय	दृद्र
१७. श्रद्धा के तीन प्रकार	दृद्र

आस्था के तीन प्रकार.....	द्व
भोजन के तीन प्रकार.....	द्व
यज्ञ के तीन प्रकार.....	द्वा
विचार, वाणी, और कर्म का तप.....	द्वा
तप के तीन प्रकार.....	द्वा
दान के तीन प्रकार.....	द्वा
ब्रह्म के तीन नाम.....	द्वा
१८. निरहंकार से मोक्ष की प्राप्ति.....	द्वा
संन्यास और त्याग की परिभाषा.....	द्वा
त्याग के तीन प्रकार.....	द्वा
नवधा त्याग.....	चद
कर्म के पांच कारण द्रु, द्रु.....	चद
ज्ञान के तीन प्रकार.....	चद
कर्म के तीन प्रकार.....	चद
कर्ता के तीन प्रकार.....	चद
बुद्धि के तीन प्रकार.....	चद
संकल्प के तीन प्रकार और मानव जीवन के चार लक्ष्य.....	चद
आनन्द के तीन प्रकार.....	चद
व्यक्ति की योग्यता के अनुसार श्रम का विभाजन.....	चद
कर्तव्य, साधना, और भक्ति से मोक्ष की प्राप्ति चघ.....	चद
कर्मबन्धन और स्वतंत्र इच्छा-शक्ति.....	चद
समर्पण, प्रभुप्राप्ति का परम मार्ग.....	चद
परमात्मा की परम सेवा तथा सर्वोत्तम दान.....	चघ
गीता जी की महिमा.....	चघ
आत्मज्ञान और कर्मयोग दोनों की आवश्यकता.....	56
भगवान श्रीकृष्ण का अंतिम संदेश.....	चघ

२९ संदर्भ ग्रन्थों के संक्षिप्त रूप

- 0१ अथ.वे. अथर्ववेद
- 0२ अव.ग. अष्टावक्र गीता
- 0३ ईशा.उ. ईशावास्य उपनिषद्
- 0४ ऐ. उ. ऐतरेय उपनिषद्
- 0५ कठ.उ. कठ उपनिषद्
- 0६ केन. उ. केन उपनिषद्
- 0७ छा.उ. छान्दोग्य उपनिषद्
- 0८ तु.रा. तुलसी रामायण
- 0९ तैत्ति.उ. तैत्तिरीय उपनिषद्
- १0 देवी.भा. देवीभागवतम्
- ११ ना.भ.सू. नारदभक्तिसूत्र
- १२ प.यो.सू. पतञ्जलि योगसूत्र
- १३ प्र.उ. प्रश्न उपनिषद्
- १४ बृह.उ. बृहदारण्यक उपनिषद्
- १५ ब्र.सू. ब्रह्मसूत्र
- १६ भा.पु. भागवत महापुराण
- १७ म.भा. महाभारत
- १८ म.स्मृ. मनुस्मृति
- १९ मा.उ. माण्डूक्य उपनिषद्
- २0 मु.उ. मुण्डक उपनिषद्
- २१ यजु.वे. यजुर्वेद, वाजसनेयी संहिता
- २२ यो.वा. योगवाशिष्ट
- २३ वा.रा. वाल्मीकि रामायण
- २४ वि.चू. विवेक चूड़ामणि
- २५ वि.पु. विष्णुपुराण
- २६ शा.भ.सू. शाण्डिल्य भक्तिसूत्र
- २७ श्वे.उ. श्वेताश्वतर उपनिषद्
- २८ सा.वे. सामवेद
- २९ ऋ.वे. ऋग्वेद

भूमिका

गीता सार्वभौमिक सत्य का सिद्धान्त है। इसका संदेश मानव को दिव्यता की ओर ले जाने वाला तथा सम्प्रदाय-निरपेक्ष है; यद्यपि इसे सनातन धर्म, जो सामान्यतः हिन्दूधर्म

के नाम से जाना जाता है, की आध्यात्मिक परम्परा के धर्मशास्त्र-त्रयी का अंग माना जाता है। परिपक्व मस्तिष्क वाले व्यक्ति के लिए किसी भी भाषा में गीता को समझना बहुत ही सुगम है। निष्ठा के साथ गीता का बार-बार किया पाठ इसमें निहित सभी उदात्त विचारों को उद्घाटित करेगा। यत्र-तत्र कुछ ऐसे भी श्लोक हैं, जो बहुत कठिन हैं, पर गीता की मुख्य चिन्तन-धारा पर तथा उसकी व्यावहारिक शिक्षा पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। गीता अध्यात्म-शास्त्र के पवित्रतम सिद्धान्तों को उजागर करती है। वह आत्मा का ज्ञान देती है और दो सार्वभौमिक प्रश्नों का उत्तर देती है कि मैं कौन हूँ और कैसे इस संघर्षमय जीवन में सुखी और शान्त होकर रह सकता हूँ। यह योग का ग्रन्थ है, जो मानव जाति को हिन्दूधर्म के मुख्य सिद्धान्तों पर आधारित नैतिक और आध्यात्मिक विकास का मार्ग दिखलाता है।

गीता के सन्देश का जन्म अर्जुन द्वारा धर्मयुद्ध करने की अनिच्छा के कारण हुआ, क्योंकि युद्ध विनाश और हिंसा का जनक है। हिन्दू विचारधारा में अहिंसा परम धर्म है। सभी प्राणी, चाहे मनुष्य हों या पशु, पवित्र हैं। भगवान श्रीकृष्ण और उनके भक्तसखा अर्जुन के बीच का यह संवाद किसी मंदिर में, किसी जंगल में या पर्वत की चोटी पर नहीं हुआ, बल्कि ठीक युद्ध के मैदान में सम्पन्न हुआ। उस युद्ध का वर्णन महाभारत-ग्रन्थ में दिया गया है, जो एक महाकाव्य है।

गीता में भगवान कृष्ण अर्जुन को खड़े होकर लड़ने के लिए प्रेरित करते हैं। इस महाभारत-युद्ध की पृष्ठभूमि को यदि ध्यान में न रखा जाए तो अहिंसा के विषय में बड़ी भ्रान्ति हो सकती है, क्योंकि धर्मयुद्ध में हिंसा नहीं है। सत्य की विजय के लिए यदि युद्ध भी करना पड़े तो उस युद्ध में वीरतापूर्वक लड़ना ही अहिंसा है। इसलिए महाभारत-युद्ध का इतिहास हमें समझ लेना चाहिए।

प्राचीन काल में एक राजा के दो पुत्र थे— धृतराष्ट्र और पाण्डु। धृतराष्ट्र जन्म से अन्धे थे, इस कारण पाण्डु को राज्य का भार मिला। पाण्डु के पांच पुत्र थे। वे पाण्डव कहलाते थे। धृतराष्ट्र के सौ पुत्र थे। वे सब कौरव कहलाते थे। कौरव-पुत्रों में दुर्योधन सब से बड़ा था। महाराज पाण्डु के मरने के बाद पाण्डु-पुत्र युधिष्ठिर राजा बने। दुर्योधन बड़ा ही ईर्ष्यालु था। वह भी राज्य करना चाहता था। अतः यह निश्चय हुआ कि पाण्डवों और कौरवों के बीच राज्य के दो भाग कर दिए जाएं। राजा दुर्योधन फिर भी सन्तुष्ट नहीं था। वह सम्पूर्ण राज्य लेना चाहता था। उसने पाण्डवों को मारकर उनका राज्य लेने के लिए अनेक षड्यंत्र रचे, परन्तु असफल रहा। फिर उसने पाण्डवों के राज्य पर गलत ढंग से अधिकार कर लिया और कहने लगा कि बिना युद्ध के एक पग भूमि भी नहीं दी जायगी। श्रीकृष्ण और अन्य लोगों के द्वारा की गयी मध्यस्थता भी असफल हुई। महाभारत के विशाल युद्ध का सूत्रपात हुआ।

पाण्डव युद्ध में अनिच्छा से भाग ले रहे थे। उनके सामने दो रास्ते थे—अपने अधिकार के लिए युद्ध करें या शान्ति और अहिंसा के नाम पर हार मानकर युद्ध से पीछे हट जाएं। पांचों पाण्डव-भाइयों में अर्जुन बुद्धिमान् था। वह युद्ध क्षेत्र में इस असमंजस की परिस्थिति का सामना करते हुए सोचने लगा कि वह युद्ध करे या शान्ति के लिए पीछे हट जाए।

अर्जुन का असमंजस सही पूछा जाए तो हम सभी का असमंजस है। अपने दैनिक जीवन में कर्तव्य-कर्म करते हुए हर एक के सामने असमंजस की छोटी-बड़ी ऐसी घड़ियां सदैव आती रहती हैं। अर्जुन की समस्या तो सबसे बड़ी है। उसके सामने उसके पूज्य गुरु, प्रिय मित्र, सगे-संबन्धी और निर्दोष जनों का समूह खड़ा है और उसे इस बात का निर्णय लेना है कि वह युद्ध करे अथवा शान्ति और अहिंसा के हेतु युद्ध से पलायन करे।

पांच हजार वर्ष पहले भारत के दिल्ली-क्षेत्र के निकट कुरुक्षेत्र में युद्ध होने वाला है। उस युद्ध के मैदान में श्रीकृष्ण और घबराये हुए अर्जुन के साथ जो बातचीत हुई, वही गीता के सात सौ श्लोक हैं। यह संवाद अन्धे धृतराष्ट्र को उसके सारथी संजय द्वारा दिव्यदृष्टि से देखकर बतलाया गया है। उसे यह दिव्यदृष्टि महर्षि व्यास जी द्वारा दी गयी थी।

गीता की मुख्य शिक्षा है कि कैसे हम अपने सभी काम-काज करते हुए जीवन के सुख और अंत में मुक्ति को प्राप्त करें। हम अपने कर्तव्य-कर्मों को लगन से करते चलें, चाहे वह कर्म युद्ध ही क्यों न हो और साथ ही प्रभु को याद रखें कि वही हमारे भीतर सही प्रेरणा दे रहा है।

संसार में दो तरह के लोग हैं— एक जो धार्मिक जीवन के लिए अपने जीविका उपार्जन और परिवार पोषण आदि कर्मों को छोड़ देते हैं तथा दूसरों पर आश्रित हो जाते हैं; और दूसरे वे जो धार्मिक जीवन की बिल्कुल ही उपेक्षा कर देते हैं; यह कहकर कि उनके पास अभी इन सब के लिए समय ही नहीं है। श्रीकृष्ण का संदेश है कि पूरा जीवन ही धर्ममय होना चाहिए। जो कुछ भी मनुष्य करे वह ईश्वर को ध्यान में रखकर करे। फिर धर्म के लिए कुछ विशेष परिश्रम अलग से नहीं करना पड़ता। केवल इतना भाव अपने मन में रखना पड़ता है कि हमारे सभी कर्म प्रभु देख रहे हैं और हम अपने कर्म उनके बतलाए मार्ग के अनुसार ही कर रहे हैं।

ऐसा हमें सदा ध्यान रहे; इसके लिए लोग तरह-तरह के पूजा-पाठ, व्रत-तप, यज्ञ-अनुष्ठान, ध्यान, जप, सत्संग, तीर्थ-भ्रमण, शास्त्र-अध्ययन आदि करते हैं। उन सबका उद्देश्य यही होता है कि किसी तरह हमारे भीतर से काम, क्रोध, लोभ आदि विकार कम हों और हम अपने मन के स्वामी बनें। इस बात का सदा ध्यान रहे कि कर्म तो हमारे भीतर प्रकृति करवाती है और हम तो निमित्त मात्र हैं। सभी कार्यों में हमें कुशलता चाहिए और अपने भीतर कोई उत्तेजना नहीं आनी देनी चाहिए; चाहे लाभ हो या हानि, दुःख हो या सुख, सफलता हो या विफलता।

आत्मा का अज्ञान मनुष्य का सबसे बड़ा अभिशाप है। आत्मा का ज्ञान शब्दों से या ग्रन्थों से करा देना संभव नहीं है। भाषा असमर्थ है और शास्त्रों का अनुवाद परमसत्य का ज्ञान पूर्णतः करवाने में असमर्थ है। प्रस्तुत अनुवाद में यह प्रयास किया गया है कि शैली मूल संस्कृत काव्य के यथासम्भव समीप हो, किन्तु साथ ही पढ़ने और समझने में सरल हो। शब्दों या वाक्यांशों को कोष्ठों में जोड़कर श्लोकों के अनुवाद को और भी स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

वराहपुराण के अनुसार कोई भी पाप, चाहे वह कितना ही जघन्य हो, उस व्यक्ति को नहीं लग सकता जो गीता पढ़ता है, मनन करता है तथा उसकी शिक्षाओं पर आचरण करता है, वैसे ही जैसे जल का प्रभाव कमल पर नहीं पड़ता है। जहां गीता रखी, पढ़ी, गाई या पढ़ाई जाती है, वहां स्वयं भगवान कृष्ण निवास करते हैं। गीता परमज्ञान है और परमतत्त्व तथा अनादि-अनन्त और शाश्वत सत्ता का नादरूप है, स्वर-प्रतीक है। जो इसे पढ़ता है, मनन करता है और निष्ठाभक्ति से गीता की शिक्षाओं का अनुसरण करता है, वह प्रभुकृपा से मोक्ष की प्राप्ति करता है।

गीता के गंभीर विषयों के मूल भावों का सरल भाषावद्ध नहीं होने के कारण जन-साधारण इसका अधिक लाभ नहीं उठा पाते। गीता जैसे गूढ़ ग्रंथ के लिए भाषा को यथासम्भव सरल बनाने का प्रयास किया गया है। यह ग्रन्थ उन गुरुओं को समर्पित किया गया है, जिनके आशीर्वाद, कृपा और शिक्षाएं अमूल्य रही हैं। और यह महानतम गुरु भगवान कृष्ण को भक्ति और प्रेम के साथ समर्पित है। प्रभु को यह अर्घ्य स्वीकार हो; और वे उन्हें, जो बारबार इस ग्रन्थ को पढ़ें, शान्ति, सुख और सच्चा आत्मज्ञान प्रदान करने की कृपा करें।

ॐ तत्सत् ॐ

रामानन्द प्रसाद, पी.एच.डी.

फ्रीमान्ट, कैलिफोर्निया, ९९

September, 2021

श्री गीता जी की महिमा

गीता हृदय भगवान का, सब ज्ञान का शुभ सार है ।
 इस शुद्ध गीता ज्ञान से ही, चल रहा संसार है ॥१॥
 गीता परमविद्या सनातन, कर्म शास्त्र प्रधान है ।
 परब्रह्म रूपी मोक्षकारी, नित्य गीता-ज्ञान है ॥२॥
 यह मोह माया कष्टमय, तरना जिसे संसार हो ।
 वह बैठ गीता नाव में, सुख से सहज में पार हो ॥३॥
 संसार के सब ज्ञान का, यह ज्ञानमय भंडार है ।
 श्रुति, उपनिषद्, वेदान्त-ग्रन्थों का परम शुभ सार है
 गाते जहां जन नित्य "हरिगीता" निरंतर नेम से ।
 रहते वही सुख-कन्द नटवर, नन्द-नन्दन प्रेम से ॥५॥
 गाते जहां जन गीत-गीता, प्रेम से धर ध्यान हैं ।
 तीरथ वहीं भव के सभी, शुभ शुद्ध और महान हैं ॥६॥
 धरते हुए जो ध्यान गीता-ज्ञान का तन छोड़ते ।
 लेने उसे माधव मुरारी, आप ही उठ दौड़ते ॥७॥
 सुनते-सुनाते नित्य, जो लाते इसे व्यवहार में ।
 पाते परम-पद ठोकरे, खाते नहीं संसार में ॥८॥
 गीता हृदय भगवान का, सब ज्ञान का शुभ सार है....

ॐ श्री गणेशाय नमः ॐ

वसुदेवसुतं देवं, कंसचाणूरमर्दनम् ।
 देवकीपरमानन्दं, कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥१॥
 मूकं करोति वाचालं, पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् ।
 यत्कृपा तमहं वन्दे, परमानन्दमाधवम् ॥२॥

अथ श्रीमद् भगवद्गीता

अथ द्वितीयोऽध्यायः

सांख्ययोगः

२. सांख्ययोग

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टम्, अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।

विषीदन्तम् इदं वाक्यम्, उवाच मधुसूदनः ॥१॥

संजय बोले— इस तरह करुणा से व्याप्त, आंसू भरे, व्याकुल नेत्रोंवाले, शोकाकुल अर्जुन से भगवान कृष्ण ने कहा— (२.०१)

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलम् इदं, विषमे समुपस्थितम् ।

अनार्यजुष्टम् अस्वर्ग्यम्, अकीर्तिकरम् अर्जुन ॥२॥

श्रीभगवान बोले— अर्जुन, इस विषम अवसर पर तुम्हें यह कायरता कैसे प्राप्त हुई ? यह श्रेष्ठ मनुष्यों के आचरण के विपरीत है तथा यह न तो स्वर्ग-प्राप्ति की साधन है और न कीर्ति देनेवाली ही है। (२.०२)

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ, नैतत् त्वय्य् उपपद्यते ।

क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं, त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥३॥

इसलिए, हे अर्जुन, तुम कायर मत बनो. यह तुम्हें शोभा नहीं देता. हे शत्रुओं को मारनेवाले अर्जुन, तुम अपने मन की इस दुर्बलता को त्यागकर युद्ध करो. (२.0३)

अर्जुन द्वारा युद्ध विरोधी तर्कों को चालू रखना

अर्जुन उवाच

कथं भीष्मम् अहं संख्ये, द्रोणं च मधुसूदन ।

इषुभिः प्रतियोत्स्यामि, पूजार्हाव् अरिसूदन ॥४॥

अर्जुन बोले— हे मधुसूदन, मैं इस रणभूमि में भीष्म और द्रोण के विरुद्ध बाणों से कैसे युद्ध करूँ ? हे अरिसूदन, वे दोनों ही पूजनीय हैं. (२.0४)

गुरून् अहत्वा हि महानुभावान्

श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यम् अपीहलोके ।

हत्वार्थकामांस् तु गुरून् इहैव

भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

इन महानुभाव गुरुजनों को मारने से अच्छा इस लोक में भिक्षा का अन्न खाना है, क्योंकि गुरुजनों को मारकर तो इस लोक में उनके रक्त से सने हुए अर्थ और कामरूपी भोगों को ही तो भोगूंगा. (२.0५)

न चैतद् विद्मः कतरन् नो गरीयो

यद् वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।

यान् एव हत्वा न जिजीविषामस्

तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥

और हम यह भी नहीं जानते कि हम लोगों के लिए (युद्ध करना या न करना, इन दोनों में) कौन-सा काम अच्छा है. अथवा यह कि हम जीतेंगे या वे जीतेंगे. जिन्हें मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे सामने खड़े हैं. (२.0६)

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः

पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।

यच्छ्रेयः स्यान् निश्चितं ब्रूहि तन् मे

शिष्यस् तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

इसलिए करुणापूर्ण और कर्तव्य पथ से भ्रमित, मैं, आपसे पूछता हूँ कि मेरे लिए जो निश्चय ही कल्याणकारी हो उसे आप कृपया कहिए. मैं आपका शिष्य हूँ, शरण में आये मुझको आप शिक्षा दीजिए. (२.0७)

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्

यच्छोकम् उच्छोषणम् इन्द्रियाणाम् ।

अवाप्य भूमाव् असपत्नम् ऋद्धं

राज्यं सुराणाम् अपि चाधिपत्यम् ॥८॥

पृथ्वी पर निष्कण्टक समृद्ध राज्य तथा देवताओं का स्वामित्व प्राप्तकर भी मैं ऐसा कुछ नहीं देखता हूँ, जिससे हमारी इन्द्रियों को सुखानेवाला शोक दूर हो सके. (२.0८)

संजय उवाच

एवम् उक्त्वा हृषीकेशं, गुडाकेशः परंतप ।

न योत्स्य इति गोविन्दम् , उक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

संजय बोले— हे राजन्, निद्रा को जीतनेवाला, अर्जुन, अन्तर्यामी श्रीकृष्ण भगवान से “मैं युद्ध नहीं करूंगा” कहकर चुप हो गया. (२.0९)

तम् उवाच हृषीकेशः, प्रहसन्न इव भारत ।

सेनयोर् उभयोर् मध्ये, विषीदन्तम् इदं वचः ॥१०॥

हे भरतवंशी (धृतराष्ट्र), दोनों सेनाओं के बीच में उस शोकाकुल अर्जुन को अन्तर्यामी श्रीकृष्ण हंसते हुए-से ये वचन बोले. (२.१०)

आत्मा और शरीर के ज्ञान के साथ गीता के उपदेशों का प्रारम्भ

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यान् अन्वशोचस् त्वं, प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।

गतासून् अगतासूंच, नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

श्रीभगवान् बोले— हे अर्जुन, तुम ज्ञानियों की तरह बातें करते हो, लेकिन जिनके लिए शोक नहीं करना चाहिए, उनके लिए शोक करते हो. ज्ञानी मृत या जीवित किसी के लिए भी शोक नहीं करते. (२.११)

न त्वेवाहं जातु नासं, न त्वं नेमे जनाधिपाः ।

न चैव न भविष्यामः, सर्वे वयम् अतः परम् ॥१२॥

ऐसा नहीं है कि मैं किसी समय नहीं था, अथवा तुम नहीं थे या ये राजा लोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे. (२.१२)

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे, कौमारं यौवनं जरा ।

तथा देहान्तरप्राप्तिर, धीरस् तत्र न मुह्यति ॥१३॥

2.13** जैसे इसी जीवन में जीवात्मा बाल, युवा और वृद्ध शरीर प्राप्त करता है, वैसे ही जीवात्मा मृत्यु के बाद दूसरा नया शरीर प्राप्त करता है. इसलिए धीर मनुष्य को मृत्यु से घबराना नहीं चाहिए. (१५.0८ भी देखें.) (२.१३)

**** महत्त्वपूर्ण श्लोक**

मात्रास्पर्शास् तु कौन्तेय, शीतोष्णसुखदुःखदाः ।

आगमापायिनोऽनित्यास् , तांस् तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

हे अर्जुन, इन्द्रियों के विषयों से संयोग के कारण होनेवाले सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख क्षणभंगुर और अनित्य हैं; इसलिए, हे अर्जुन, तुम उसको सहन करो. (२.१४)

यं हि न व्यथयन्त्येते, पुरुषं पुरुषर्षभ ।

समदुःखसुखं धीरं, सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

हे पुरुषश्रेष्ठ, दुःख और सुख में समान भाव से रहनेवाले जिस धीर मनुष्य को इन्द्रियों के विषय व्याकुल नहीं कर पाते, वह मोक्ष का अधिकारी होता है. (२.१५)

आत्मा नित्य है, शरीर अनित्य है

नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः ।

उभयोर् अपि दृष्टोऽन्तस् , त्व् अनयोस् तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

असत् वस्तु का विनाश होता है और सत् (आत्मा) अविनाशी और अपरिवर्तनीय है. तत्त्वदर्शी मनुष्य असत् और सत् दोनों को तत्त्व से जानते हैं. (२.१६)

अविनाशि तु तद् विद्धि, येन सर्वम् इदं ततम् ।

विनाशम् अव्ययस्यास्य, न कश्चित् कर्तुम् अर्हति ॥१७॥

उस अविनाशी तत्त्व को जानो, जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है, इस अविनाशी का नाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है. (२.१७)

अन्तवन्त इमे देहा, नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।

अनाशिनोऽप्रमेयस्य, तस्माद् युध्यस्व भारत ॥१८॥

इस अविनाशी, असीम और नित्य जीवात्मा के ये सब शरीर नाशवान् कहे गए हैं; इसलिए, हे भरतवंशी अर्जुन, तुम युद्ध करो. (२.१८)

य एनं वेत्ति हन्तारं, यश्चैनं मन्यते हतम् ।

उभौ तौ न विजानीतो, नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

जो इस आत्मा को मारनेवाला या मरनेवाला मानते हैं, वे दोनों ही नासमझ हैं, क्योंकि आत्मा न किसी को मारता है और न किसी के द्वारा मारा जा सकता है. (कठ.उ. २.१९ में एक समानान्तर श्लोक है.) (२.१९)

न जायते म्रियते वा कदाचिन्

नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो

न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

2.20 आत्मा कभी न जन्म लेता है और न मरता ही है. आत्मा का होना फिर न होना नहीं होता है. आत्मा अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है. शरीर के नाश होने पर इसका नाश नहीं होता. (कठ.उ. २.१८ भी देखें.) (२.२०)**

वेदाविनाशिनं नित्यं, य एनम् अजम् अव्ययम् ।

कथं स पुरुषः पार्थ, कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

हे पार्थ, जो मनुष्य आत्मा को अविनाशी, नित्य, जन्मरहित और अव्यय जानता है, वह कैसे किसको मरवायेगा और कैसे किसको मारेगा ? (२.२१)

मृत्यु और आत्मा का पुनर्जन्म

वासंसि जीर्णानि यथा विहाय

नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्य्

अन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

2.22 जैसे मनुष्य अपने पुराने वस्त्रों को उतारकर दूसरे नये वस्त्र धारण करता है, वैसे ही जीव मृत्यु के बाद अपने पुराने शरीर को त्यागकर दूसरा नया शरीर प्राप्त करता है. (२.२२)**

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः ।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मास्तः ॥२३॥

अच्छेद्योऽयम् अदाह्योऽयम् , अक्लेद्योऽशोष्य एव च ।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुर् , अचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

शस्त्र इस आत्मा को काट नहीं सकते, अग्नि इसको जला नहीं सकती, जल इसको गीला नहीं कर सकता और वायु इसे सुखा नहीं सकती; क्योंकि आत्मा अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है. आत्मा नित्य, सर्वगत, स्थिर, अचल और सनातन है. (२.२३-२४)

अव्यक्तोऽयम् अचिन्त्योऽयम् , अविकार्योऽयम् उच्यते ।

तस्माद् एवं विदित्वैनं, नानुशोचितुम् अर्हसि ॥२५॥

यह आत्मा अव्यक्त, अचिन्त्य और निर्विकार कहा जाता है. अतः आत्मा को ऐसा जानकर तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए. (२.२५)

अथ चैनं नित्यजातं, नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।

तथापि त्वं महाबाहो, नैवं शोचितुम् अर्हसि ॥२६॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर् , ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।

तस्माद् अपरिहार्येऽर्थे, न त्वं शोचितुम् अर्हसि ॥२७॥

हे महाबाहो, यदि तुम शरीर में रहनेवाले जीवात्मा को नित्य पैदा होनेवाला तथा मरनेवाला भी मानो, तो भी तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए; क्योंकि जन्म लेनेवाले की मृत्यु निश्चित है और मरनेवाले का जन्म निश्चित है. अतः जो अटल है, उसके विषय में तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए. (२.२६-२७)

अव्यक्तादीनि भूतानि, व्यक्तमध्यानि भारत ।

अव्यक्तनिधनान्येव, तत्र का परिदेवना ॥२८॥

हे अर्जुन, सभी प्राणी जन्म से पहले अप्रकट थे और मृत्यु के बाद फिर अप्रकट हो जाएंगे, केवल (जन्म और मृत्यु के) बीच में प्रकट दीखते हैं; फिर इसमें शोक करने की क्या बात है ? (२.२८)

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिद् एनम्
आश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनम् अन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

कोई इस आत्मा को आश्चर्य की तरह देखता है, कोई इसका आश्चर्य की तरह वर्णन करता है, कोई इसे आश्चर्य की तरह सुनता है और कोई इसके बारे में सुनकर भी नहीं समझ पाता है. (कठ.उ. २.०७ भी देखें.) (२.२९)

देही नित्यम् अवध्योऽयं, देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि, न त्वं शोचितुम् अर्हसि ॥३०॥

हे अर्जुन, सबके शरीर में रहनेवाला यह आत्मा सदा अवध्य है, इसलिए किसी भी प्राणी के लिए तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए. (२.३०)

श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को उसके कर्तव्यों का स्मरण कराना

स्वधर्मम् अपि चावेक्ष्य, न विकम्पितुम् अर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् , क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

और अपने स्वधर्म की दृष्टि से भी तुम्हें अपने कर्तव्य से विचलित नहीं होना चाहिए, क्योंकि क्षत्रिय के लिए धर्मयुद्ध से बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी कर्म नहीं है. (२.३१)

यदृच्छया चोपपन्नं, स्वर्गद्वारम् अपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ, लभन्ते युद्धम् ईदृशम् ॥३२॥

हे पृथानन्दन, अपनेआप प्राप्त हुआ युद्ध स्वर्ग के खुले हुए द्वार जैसा है, जो सौभाग्यशाली क्षत्रियों को ही प्राप्त होता है. (२.३२)

अथ चेत् त्वम् इमं धर्म्यं, संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च, हित्वा पापम् अवाप्स्यसि ॥३३॥

और यदि तुम इस धर्मयुद्ध को नहीं करोगे, तब अपने स्वधर्म और कीर्ति को खोकर पाप को प्राप्त होगे. (२.३३)

अकीर्तिं चापि भूतानि, कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिरं, मरणाद् अतिरिच्यते ॥३४॥

तथा सब लोग बहुत दिनों तक तुम्हारी अपकीर्ति की चर्चा करेंगे. सम्मानित व्यक्ति के लिए अपमान मृत्यु से भी बढ़कर है. (२.३४)

भयाद् रणाद् उपरतं, मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो, भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

महारथी लोग तुम्हें डरकर युद्ध से भागा हुआ मानेंगे और जिनके लिए तुम बहुत माननीय हो, उनकी दृष्टि से तुम नीचे गिर जाओगे. (२.३५)

अवाच्यवादांश्च बहून्, वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस् तव सामर्थ्यं, ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

तुम्हारे वैरी लोग तुम्हारी सामर्थ्य की निन्दा करते हुए तुम्हारी बहुत बुराई करेंगे. तुम्हारे लिए इससे अधिक दुःखदायी और क्या होगा ? (२.३६)

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं, जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्माद् उत्तिष्ठ कौन्तेय, युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

युद्ध में मरकर तुम स्वर्ग जाओगे या विजयी होकर पृथ्वी का राज्य भोगोगे; इसलिए, हे कौन्तेय, तुम युद्ध के लिए निश्चय करके खड़े हो जाओ. (२.३७)

सुखदुःखे समे कृत्वा, लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व, नैवं पापम् अवाप्स्यसि ॥३८॥

2.38 सुख-दुःख, लाभ-हानि और जीत-हार की चिन्ता न करके मनुष्य को अपनी शक्ति के अनुसार कर्तव्य-कर्म करना चाहिए. ऐसे भाव से कर्म करने पर मनुष्य को पाप (अर्थात् कर्म का बन्धन) नहीं लगता. (२.३८)**

कर्मयोग, अर्थात् निष्काम कर्म का महत्त्व

एषा तेऽभिहिता सांख्ये, बुद्धिर् योगे त्व इमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ, कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

हे पार्थ, मैंने सांख्यमत का यह ज्ञान तुम से कहा, अब कर्मयोग का विषय सुनो, जिस ज्ञान से युक्त होकर तुम कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाओगे. (२.३९)

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति, प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पम् अप्य् अस्य धर्मस्य, त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

कर्मयोग में आरम्भ अर्थात् बीज का नाश ही नहीं होता तथा उल्टा फल भी नहीं मिलता है. इस निष्काम कर्मयोगरूपी धर्म का थोड़ा-सा अभ्यास भी (जन्म-मरणरूपी) महान भय से रक्षा करता है. (२.४०)

व्यवसायात्मिका बुद्धिर् , एकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्य् अनन्ताश्च, बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

हे अर्जुन, कर्मयोगी केवल ईश्वरप्राप्ति का ही दृढ़ निश्चय करता है; परन्तु सकाम मनुष्यों की इच्छाएं अनेक और अनन्त होती हैं. (२.४१)

वेदों का विषय भौतिक और आध्यात्मिक जीवन के दोनों पहलू है

याम् इमां पुष्पितां वाचं, प्रवदन्त्य् अविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ, नान्यद् अस्तीति वादिनः ॥४२॥

वेदवादरताः पार्थ, नान्यद् अस्तीति वादिनः ॥४२॥

हे पार्थ, सकाम अविवेकीजन, जिन्हें वेद की मधुर संगीतमयी वाणी से प्रेम है, (वेद को यथार्थ रूप से नहीं समझने के कारण) ऐसा समझते हैं कि वेद में भोगों के सिवा और कुछ है ही नहीं. (२.४२)

कामात्मानः स्वर्गपरा, जन्मकर्मफलप्रदाम् ।

क्रियाविशेषबहुलां, भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥

वे कामनाओं से युक्त, स्वर्ग को ही श्रेष्ठ माननेवाले, भोग और धन को प्राप्त करानेवाले अनेक धार्मिक संस्कारों को बताते हैं, जो पुनर्जन्मरूपी कर्मफल को देनेवाले होते हैं. (कठ.उ. २. ०५, ईशा.उ. ०९ भी देखें.)

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां, तयापहृतचेतसाम् ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिः, समाधौ न विधीयते ॥४४॥

भोग और ऐश्वर्य ने जिनका चित्त हर लिया है, ऐसे व्यक्ति के अन्तःकरण में भगवत्प्राप्ति का दृढ़ निश्चय नहीं होता है और वे परमात्मा का ध्यान नहीं कर सकते हैं. (२.४४)

त्रैगुण्यविषया वेदा, निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो, निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

हे अर्जुन, वेदों (के कर्मकाण्ड) का विषय प्रकृति के तीन गुणों से सम्बन्धित है; तुम त्रिगुणातीत, निर्द्वन्द्व, परमात्मा में स्थित, योगक्षेम न चाहनेवाले और आत्मपरायण बनो. (२.४५)

यावानर्थ उदपाने, सर्वतः संप्लुतोदके ।

तावान् सर्वेषु वेदेषु, ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

ब्रह्म को तत्त्वतः जाननेवालों के लिए वेदों की उतनी ही आवश्यकता रहती है, जितनी महान सरोवर के प्राप्त होनेपर एक छोटे जलाशय की. (२.४६)

कर्मयोग का सिद्धान्त और व्यवहार

कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन ।

मा कर्मफलहेतुर् भूर्, मा ते सङ्गोऽस्त्व् अकर्मणि ॥४७॥

2.47** केवल कर्म करना ही मनुष्य के वश में है, कर्मफल नहीं. इसलिए तुम कर्मफल की आसक्ति में न फंसो तथा अपने कर्म का त्याग भी न करो. (२.४७)

योगस्थः कुरु कर्माणि, सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।

सिद्धिसिद्ध्योः समो भूत्वा, समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

2.48** हे धनंजय, परमात्मा के ध्यान और चिन्तन में स्थित होकर, सभी प्रकार की आसक्तियों को त्यागकर, तथा सफलता और असफलता में सम होकर, अपने कर्तव्यकर्मा का भलीभांति पालन करो. मन का समत्वभाव में रहने को ही योग (या कर्मयोग) कहते हैं. (६.०३ भी देखें) (२.४८)

दूरेण ह्यवरं कर्म, बुद्धियोगाद् धनंजय ।

बुद्धौ शरणम् अन्विच्छ, कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

कर्मयोग से सकामकर्म अत्यन्त निकृष्ट है; अतः हे अर्जुन, तुम कर्मयोगी बनो, क्योंकि फल की इच्छा रखनेवालों को (असफलता का भय तथा) दुःख होता है. (२.४९)

बुद्धियुक्तो जहातीह, उभे सुकृतदुष्कृते ।

तस्माद् योगाय युज्यस्व, योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

2.50** कर्मफल की आसक्ति त्यागकर कर्म करनेवाला निष्काम कर्मयोगी इसी जीवन में पाप और पुण्य से मुक्त हो जाता है, इसलिए तुम निष्काम कर्मयोगी बनो. (फल की आसक्ति से असफलता का भय होता है, जिसके कारण कर्म अच्छी तरह नहीं हो पाता है.) निष्काम कर्मयोग को ही कुशलतापूर्वक कर्म करना कहते हैं. (२.५०)

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि, फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।

जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः, पदं गच्छन्त्य् अनामयम् ॥५१॥

ज्ञानी कर्मयोगीजन कर्मफल की आसक्ति को त्यागने के कारण जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं तथा परम शान्ति को प्राप्त करते हैं. (२.५१)

यदा ते मोहकलिलं, बुद्धिर् व्यतितरिष्यति ।

तदा गन्तासि निर्वेदं, श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

जब तुम्हारी बुद्धि मोहरूपी दलदल को पार कर जाएगी, उस समय तुम शास्त्र से सुने हुए तथा सुनने योग्य वस्तुओं से भी वैराग्य प्राप्त करोगे. (२.५२)

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते, यदा स्थास्यति निश्चला ।

समाधावचला बुद्धिस्, तदा योगम् अवाप्स्यसि ॥५३॥

जब अनेक प्रकार के प्रवचनों को सुनने से विचलित हुई तुम्हारी बुद्धि परमात्मा के स्वरूप में निश्चल रूप से स्थिर हो जायगी, उस समय तुम समाधि में परमात्मा से युक्त हो जाओगे. (२.५३)

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा, समाधिस्थस्य केशव ।

स्थितधीः किं प्रभाषेत, किम् आसीत् व्रजेत किम् ॥५४॥

अर्जुन बोले— हे केशव, समाधिप्राप्त, स्थिर बुद्धिवाले अर्थात् स्थितप्रज्ञ मनुष्य का क्या लक्षण है ? स्थिर बुद्धिवाला मनुष्य कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है. (२.५४)

आत्मज्ञानी के लक्षण

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान् , सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।

आत्मन्येव् आत्मना तुष्टः, स्थितप्रज्ञस् तदोच्यते ॥५५॥

श्रीभगवान् बोले— हे पार्थ, जिस समय साधक अपने मन की सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्णरूप से त्याग देता है और आत्मा में आत्मानन्द से ही सन्तुष्ट रहता है, उस समय वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है. (२.५५)

दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः, सुखेषु विगतस्पृहः ।

वीतरागभयक्रोधः, स्थितधीर् मुनिर् उच्यते ॥५६॥

दुःख से जिसका मन उद्विग्न नहीं होता, सुख की जिसकी आकांक्षा नहीं होती तथा जिसके मन से राग, भय और क्रोध नष्ट हो गए हैं, ऐसा मुनि स्थितप्रज्ञ कहा जाता है. (२.५६)

यः सर्वत्रानभिस्नेहस् , तत् तत् प्राप्य शुभाशुभम् ।

नाभिनन्दति न द्वेष्टि, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

जिसे किसी भी वस्तु में आसक्ति न हो, जो शुभ को प्राप्तकर प्रसन्न न हो और अशुभ से द्वेष न करे, उसकी बुद्धि स्थिर है. (२.५७)

यदा संहरते चायं, कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस् , तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

जब साधक सब ओर से अपनी इन्द्रियों को विषयों से इस तरह हटा ले जैसे कछुआ (विपत्ति के समय अपनी रक्षा के लिए) अपने अंगों को समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर समझनी चाहिए. (२.५८)

विषया विनिवर्तन्ते, निराहारस्य देहिनः ।

रसवर्जं रसोऽप्यस्य, परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

इन्द्रियों को विषयों से हटानेवाले मनुष्य से विषयों की इच्छा तो हट भी जाती है, परन्तु विषयों की आसक्ति दूर नहीं होती. परमात्मा के स्वरूप को भलीभांति समझकर स्थितप्रज्ञ मनुष्य (विषयों की) आसक्ति से भी दूर हो जाता है. (२.५९)

अनियन्त्रित इन्द्रियों के दुष्परिणाम

यततो ह्यपि कौन्तेय, पुरुषस्य विपश्चितः ।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि, हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

हे कुन्तीनन्दन, संयम का प्रयत्न करते हुए ज्ञानी मनुष्य के मन को भी चंचल इन्द्रियां बलपूर्वक हर लेती हैं. (२.६०)

तानि सर्वाणि संयम्य, युक्त आसीत मत्परः ।

वशे हि यस्येन्द्रियाणि, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

इसलिए साधक अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करके मुझमें श्रद्धापूर्वक ध्यान लगाकर बैठे; क्योंकि जिसकी इन्द्रियां वश में होती हैं, उसी की बुद्धि स्थिर होती है. (२.६१)

ध्यायतो विषयान् पुंसः, सङ्गस् तेषूपजायते ।

सङ्गात् संजायते कामः, कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥

विषयों का चिन्तन करने से विषयों में आसक्ति होती है, आसक्ति से (विषयों के सेवन करने की) इच्छा उत्पन्न होती है और इच्छा (पूरी नहीं होने) से क्रोध होता है. (२.६२)

क्रोधाद् भवति संमोहः, संमोहात् स्मृतिविभ्रमः ।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥६३॥

क्रोध से सम्मोह अर्थात् अविवेक उत्पन्न होता है. सम्मोह से मन भ्रष्ट हो जाता है. मन भ्रष्ट होने पर बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि का नाश होने से मनुष्य का पतन होता है. (२.६३)

रागद्वेषवियुक्तैस्तु, विषयान् इन्द्रियैश्चरन् ।

आत्मवश्यैर् विधेयात्मा, प्रसादम् अधिगच्छति ॥६४॥

रागद्वेष से रहित संयमी साधक अपने वश में की हुई इन्द्रियों द्वारा विषयों को भोगता हुआ शान्ति प्राप्त करता है. (२.६४)

प्रसादे सर्वदुःखानां, हानिर् अस्योपजायते ।

प्रसन्नचेतसो ह्याशु, बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

शान्ति से सभी दुःखों का अन्त हो जाता है और शान्तचित्त मनुष्य की बुद्धि शीघ्र ही स्थिर होकर परमात्मा से युक्त हो जाती है. (२.६५)

नास्ति बुद्धिर् अयुक्तस्य, न चायुक्तस्य भावना ।

न चाभावयतः शान्तिर् , अशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

(ईश्वर से) अयुक्त मनुष्य के अन्तःकरण में न ईश्वर का ज्ञान होता है, न ईश्वर की भावना ही. भावनाहीन मनुष्य को शान्ति नहीं मिलती और अशान्त मनुष्य को सुख कहां ? (२.६६)

इन्द्रियाणां हि चरतां, यन् मनोऽनुविधीयते ।

तदस्य हरति प्रज्ञां, वायुर् नावम् इवाम्भसि ॥६७॥

2.67** जैसे जल में तैरती नाव को तूफान उसके लक्ष्य से दूर टकेल देता है, वैसे ही इन्द्रिय-सुख मनुष्य की बुद्धि को गलत रास्ते की ओर ले जाता है. (२.६७)

तस्माद् यस्य महाबाहो, निगृहीतानि सर्वशः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस् , तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

इसलिए, हे अर्जुन, जिसकी इन्द्रियां सर्वथा विषयों के वश में नहीं होती हैं, उसकी बुद्धि स्थिर रहती है. (२.६८)

या निशा सर्वभूतानां, तस्यां जागर्ति संयमी ।

यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

सब प्राणियों के लिए जो रात्रि है, उसमें संयमी मनुष्य जागा रहता है; और जब साधारण मनुष्य जागते हैं, तत्त्वदर्शी मुनि के लिए वह रात्रि के समान होता है. (२.६९)

आपूर्यमाणम् अचलप्रतिष्ठं

समुद्रम् आपः प्रविशन्ति यद्वत् ।

तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे

स शान्तिम् आप्नोति न कामकामी ॥७०॥

जैसे सभी नदियों के जल समुद्र को विचलित किए बिना परिपूर्ण समुद्र में समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस संयमी मनुष्य में विकार उत्पन्न किए बिना समा जाते हैं, वह मनुष्य शान्ति प्राप्त करता है, न कि भोगों की कामना करनेवाला. (२.७०)

विहाय कामान् यः सर्वान् , पुमांश्चरति निःस्पृहः ।

निर्ममो निरहंकारः, स शान्तिम् अधिगच्छति ॥७१॥

जो मनुष्य सब कामनाओं को त्यागकर इच्छारहित, ममतारहित तथा अहंकाररहित होकर विचरण करता है, वही शान्ति प्राप्त करता है.

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ, नैनां प्राप्य विमुह्यति ।

स्थित्वाऽस्याम् अन्तकालेऽपि, ब्रह्मनिर्वाणम् ऋच्छति ॥७२॥

हे पार्थ, यही ब्राह्मी स्थिति है, जिसे प्राप्त करने के बाद मनुष्य मोहित नहीं होता. अन्तसमय में भी इस निष्ठा में स्थित होकर मनुष्य ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करता है. (२.७२)

इस प्रकार सांख्ययोग नामक दूसरा अध्याय पूर्ण हुआ.

अथ तृतीयोऽध्यायः

कर्मयोगः

३. निष्काम-कर्म का मार्ग

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत् कर्मणस् ते, मता बुद्धिर् जनार्दन ।

तत् किं कर्मणि घोरे मां, नियोजयसि केशव ॥१॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन, बुद्धिं मोहयसीव मे ।

तद् एकं वद निश्चित्य, येन श्रेयोऽहम् आप्नुयाम् ॥२॥

अर्जुन बोले— हे जनार्दन, यदि आप कर्म से ज्ञान को श्रेष्ठ मानते हैं, तो फिर, हे केशव, आप मुझे इस भयंकर कर्म में क्यों लगा रहे हैं ? आप मिश्रित वचनों से मेरी बुद्धि को भ्रमित कर रहे हैं. अतः आप उस एक बात को निश्चित रूप से कहिए, जिससे मेरा कल्याण हो. (३.०१-०२)

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा, पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ।

ज्ञानयोगेन सांख्यानां, कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

श्रीभगवान् बोले— हे निष्ठाप अर्जुन, इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गई है. जिनकी रुचि ज्ञान में होती है, उनकी निष्ठा ज्ञानयोग से और कर्म में रुचिवालों की निष्ठा कर्मयोग से होती है. (३.०३)

न कर्मणाम् अनारम्भान् , नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।

न च संन्यसनाद् एव, सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

मनुष्य कर्म का त्यागकर कर्म के बन्धनों से मुक्त नहीं होता. कर्म के त्याग मात्र से ही सिद्धि की प्राप्ति नहीं होती. (३.०४)

न हि कश्चित् क्षणमपि, जातु तिष्ठत्य् अकर्मकृत् ।

कार्यते ह्य् अवशः कर्म, सर्वः प्रकृतिजैर् गुणैः ॥५॥

कोई भी मनुष्य एक क्षण भी बिना कर्म किए नहीं रह सकता, क्योंकि प्रकृति के गुणों द्वारा मनुष्यों से परवश की तरह सभी कर्म करवा लिए जाते हैं. (३.०५)

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य, य आस्ते मनसा स्मरन् ।

इन्द्रियार्थान् विमृदात्मा, मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

जो मूढबुद्धि मनुष्य इन्द्रियों को (प्रदर्शन के लिए) रोककर मन द्वारा विषयों का चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी कहा जाता है. (३.०६)

दूसरों की सेवा क्यों?

यस् त्व् इन्द्रियाणि मनसा, नियम्यारभतेऽर्जुन ।

कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगम्, असक्तः स विशिष्यते ॥७॥

परन्तु हे अर्जुन, जो मनुष्य बुद्धि द्वारा अपनी इन्द्रियों को वश में करके, अनासक्त होकर, कर्मेन्द्रियों द्वारा निष्काम कर्मयोग का आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है. (३.०७)

नियतं कुरु कर्म त्वं, कर्म ज्यायो ह्य् अकर्मणः ।

शरीरयात्रापि च ते, न प्रसिद्ध्येद् अकर्मणः ॥८॥

तुम अपने कर्तव्य का पालन करो, क्योंकि कर्म न करने से कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करने से तेरे शरीर का निर्वाह भी नहीं होगा.

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र, लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।

तदर्थं कर्म कौन्तेय, मुक्तसङ्गः समाचर ॥९॥

3.09** केवल अपने लिए कर्म करने से मनुष्य कर्मबन्धन से बंध जाता है; इसलिए हे अर्जुन, **कर्मफल की आसक्ति** त्यागकर (सेवाभाव से भलीभांति) **उस परमात्मा के लिये** अपने कर्तव्यकर्म का पालन करो. (३.०९)

पारस्परिक सहयोग विधाता का पहला निर्देश

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा, पुरोवाच प्रजापतिः ।

अनेन प्रसविष्यध्वम् , एष वोऽस्त्व् इष्टकामधुक् ॥१०॥

सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने सृष्टि के आदि में यज्ञ (अर्थात् निःस्वार्थ सेवा) के साथ प्रजा का निर्माण कर कहा—“इस सेवा-यज्ञ द्वारा तुम लोग वृद्धि प्राप्त करो और यह यज्ञ तुम लोगों को इष्टफल देनेवाला हो.” (३.१०)

देवान् भावयतानेन, ते देवा भावयन्तु वः ।

परस्परं भावयन्तः, श्रेयः परम् अवाप्स्यथ ॥११॥

तुम लोग जन-सेवा यज्ञ के द्वारा देवताओं की सहायता करो और देवगण तुम लोगों की सहायता करें. इस प्रकार एक दूसरे की सहायता करते हुए तुम परम कल्याण (मुक्ति) को प्राप्त होगे. (३.११)

इष्टान् भोगान् हि वो देवा, दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।

तैर् दत्तान् अप्रदायैभ्यो, यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

यज्ञ द्वारा पोषित देवगण तुम्हें इष्टफल प्रदान करेंगे. देवताओं के द्वारा दिए हुए भोगों को जो मनुष्य उन्हें बिना दिए अकेला सेवन करता है, वह निश्चय ही चोर है. (३.१२)

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो, मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।

भुञ्जते ते त्व् अघं पापा, ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

यज्ञ से बचे हुए अन्न को खानेवाले श्रेष्ठ मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाते हैं; परन्तु जो लोग केवल अपने लिए ही अन्न पकाते हैं, वे पाप के भागी होते हैं. (ऋ.वे. १०.११७.०६ भी देखें.) (३.१३)

अन्नाद् भवन्ति भूतानि, पर्जन्याद् अन्नसंभवः ।

यज्ञाद् भवति पर्जन्यो, यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि, ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।

तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म, नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

समस्त प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न परमात्मा से होता है, परमात्मा सेवारूपी यज्ञ से प्रसन्न होते हैं (और आशिर्वादरूप में श्रद्धा, भक्ति, ज्ञान प्रदान करते हैं). यज्ञ निष्कामकर्म है, जो वेदों में विहित है और वेद को अविनाशी ब्रह्म से उत्पन्न हुआ जानो. इस तरह सर्वव्यापी ब्रह्म सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है. (४.३२ भी देखें.) (३.१४-१५)

एवं प्रवर्तितं चक्रं, नानुवर्तयतीह यः ।

अघायुर् इन्द्रियारामो, मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

3.16 हे पार्थ, जो मनुष्य सेवा द्वारा इस सृष्टिचक्र के चलते रहने में सहयोग नहीं देता है, वैसा पापमय, भोगी मनुष्य व्यर्थ ही जीता है. (३.१६)**

यस् त्वात्मरतिर् एव स्याद् , आत्मतृप्तश्च मानवः ।

आत्मन्येव च संतुष्टस् , तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

परन्तु जो मनुष्य परमात्मा में ही रमण करता है तथा परमात्मा में ही तृप्त और संतुष्ट रहता है, वैसे आत्मज्ञानी मनुष्य के लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता. (३.१७)

नैव तस्य कृतेनार्थो, नाकृतेनेह कश्चन ।

न चास्य सर्वभूतेषु, कश्चिद् अर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

उसका कर्म करने से या न करने से कोई प्रयोजन नहीं रहता तथा वह (परमात्मा के सिवा) किसी और प्राणी पर आश्रित नहीं रहता. (३.१८)

नेता उदाहरण बनें

तस्माद् असक्तः सततं, कार्यं कर्म समाचर ।

असक्तो ह्याचरन् कर्म, परम् आप्नोति पुरुषः ॥१९॥

3.19* इसलिए तुम अनासक्त होकर सदा अपने कर्तव्यकर्म का भलीभांति पालन करो, क्योंकि अनासक्त रहकर कर्म करने से ही मनुष्य परमात्मा को प्राप्त करता है. (३.१९)**

कर्मणैव हि संसिद्धिम् , आस्थिता जनकादयः ।

लोकसंग्रहमेवापि, संपश्यन् कर्तुम् अर्हसि ॥२०॥

राजा जनक आदि ज्ञानीजन निष्काम कर्मयोग द्वारा परम सिद्धि को प्राप्त हुए थे. लोककल्याण के लिए भी तुम्हारा कर्म करना ही उचित है. (३.२०)

यद् यद् आचरति श्रेष्ठस् , तत् तद् एवेतरो जनः ।

स यत् प्रमाणं कुरुते, लोकस् तद् अनुवर्तते ॥२१॥

श्रेष्ठ मनुष्य जैसा आचरण करता है, दूसरे लोग भी वैसा ही आचरण करते हैं. वह जो आदर्श बताता है, जनसमुदाय उसीका अनुसरण करता है. (३.२१)

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं, त्रिषु लोकेषु किंचन ।

नानवाप्तम् अवाप्तव्यं, वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

हे पार्थ, तीनों लोकों में न तो मेरा कोई कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करने योग्य वस्तु मुझे अप्राप्त है, फिर भी मैं कर्म करता हूं. (३.२२)

यदि ह्यहं न वर्तेयं, जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते, मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

उत्पीदेयुर् इमे लोका, न कुर्यां कर्म चेद् अहम् ।

संकरस्य च कर्ता स्याम् , उपहन्याम् इमाः प्रजाः ॥२४॥

क्योंकि यदि मैं सावधान होकर कर्म न करूं तो, हे पार्थ, मनुष्य मेरे ही मार्ग का अनुसरण करेंगे. इसलिए यदि मैं कर्म न करूं, तो ये सब लोक नष्ट हो जायेंगे और मैं ही इनके विनाश का तथा अराजकता का कारण बनूंगा. (३.२३-२४)

सक्ताः कर्मण्य् अविद्वांसो, यथा कुर्वन्ति भारत ।

कुर्याद् विद्वांस् तथासक्तश् , चिकीर्षुर् लोकसंग्रहम् ॥२५॥

हे भारत, अज्ञानी लोग जिस प्रकार कर्मफल में आसक्त होकर भलीभांति अपना कर्म करते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी मनुष्य भी जनकल्याण हेतु आसक्तिरहित होकर भलीभांति अपना कर्म करें. (३.२५)

न बुद्धिभेदं जनयेद्, अज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।

जोषयेत् सर्वकर्माणि, विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥२६॥

ज्ञानी कर्मफल में आसक्त अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम अर्थात् कर्मों में अश्रद्धा उत्पन्न न करे तथा स्वयं (अनासक्त होकर) समस्त कर्मों को भलीभांति करता हुआ दूसरों को भी वैसा ही करने की प्रेरणा दे. (३.२९ भी देखें.) (३.२६)

सभी कर्म प्रकृति करती हैं

3.27** प्रकृतेः क्रियमाणानि, गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

अहंकारविमूढात्मा, कर्ताहम् इति मन्यते ॥२७॥

वास्तव में संसार के सारे कार्य प्रकृति मां के गुणरूपी परमेश्वर की शक्ति के द्वारा ही किए जाते हैं, परन्तु अज्ञानवश मनुष्य अपनेआप को ही कर्ता समझ लेता है (तथा कर्मफल की आसक्तिरूपी बन्धनों से बंध जाता है. मनुष्य तो परम शक्ति के हाथ की कठपुतली मात्र है). (५.०९, १३.२९, १४.१९ भी देखें.) (३.२७)

तत्त्ववित् तु महाबाहो, गुणकर्मविभागयोः ।

गुणा गुणेषु वर्तन्त, इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

परन्तु हे महाबाहो, गुण और कर्म के रहस्य को जाननेवाले ज्ञानी मनुष्य ऐसा समझकर कि (इन्द्रियों द्वारा) प्रकृति के गुण ही सारे कर्म करते हैं (तथा मनुष्य कुछ भी नहीं करता है) कर्म में आसक्त नहीं होते. (३.२८)

प्रकृतेर् गुणसंमूदाः, सज्जन्ते गुणकर्मसु ।

तान् अकृत्स्नविदो मन्दान्, कृत्स्नविन् न विचालयेत् ॥२९॥

प्रकृति के गुणों द्वारा मोहित होकर अज्ञानी मनुष्य गुणों के (द्वारा किए गए) कर्मों में आसक्त रहते हैं, उन्हें ज्ञानी मनुष्य सकाम कर्म के मार्ग से विचलित न करें. (३.२६ भी देखें.) (३.२९)

मयि सर्वाणि कर्माणि, संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।

निराशीर् निर्ममो भूत्वा, युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

मुझमें चिन्त लगाकर, सम्पूर्ण कर्मों (के फल) को मुझमें अर्पण करके, आशा, ममता और संतापरहित होकर अपना कर्तव्य (युद्ध) करो. (३.३०)

ये मे मतम् इदं नित्यम्, अनुतिष्ठन्ति मानवाः ।

श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो, मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

ये त्वेतद् अभ्यसूयन्तो, नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।

सर्वज्ञानविमूढास् तान्, विद्धि नष्टान् अचेतसः ॥३२॥

जो मनुष्य बिना आलोचना किए, श्रद्धापूर्वक मेरे इस उपदेश का सदा पालन करते हैं, वे कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं; परन्तु जो आलोचक मेरे इस उपदेश का पालन नहीं करते, उन्हें अज्ञानी, विवेकहीन तथा खोया हुआ समझना चाहिए. (३.३१-३२)

सदृशं चेष्टते स्वस्याः, प्रकृतेर् ज्ञानवान् अपि ।

प्रकृतिं यान्ति भूतानि, निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

सभी प्राणी अपने स्वभाव-वश ही कर्म करते हैं. ज्ञानी भी अपनी प्रकृति के अनुसार ही कार्य करता है. फिर इन्द्रियों के निग्रह का क्या प्रयोजन है ? (३.३३)

पूर्णता के मार्ग में दो बाधाएँ

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे, रागद्वेषो व्यवस्थितौ ।

तयोर न वशम् आगच्छेत्, तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

3.34** प्रत्येक इन्द्रिय के भोग में राग और द्वेष, मनुष्य के कल्याण-मार्ग में विघ्न डालनेवाले, दो महान शत्रु रहते हैं. इसलिए मनुष्य को राग और द्वेष के वश में नहीं होना चाहिए. (३.३४)

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः, परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावहः ॥३५॥

अपना गुणरहित सहज और स्वाभाविक कार्य आत्मविकास के लिए दूसरे अच्छे अस्वाभाविक कार्य से श्रेयस्कर है. स्वधर्म के कार्य में मरना भी कल्याणकारक है. अस्वाभाविक कार्य हानिकारक होता है. (१८.४७ भी देखें.) (३.३५)

काम पाप का मूल है

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं, पापं चरति पूरुषः ।

अनिच्छन्नपि वाष्ण्य, बलाद् इव नियोजितः ॥३६॥

अर्जुन बोले— हे कृष्ण, न चाहते हुए भी बलपूर्वक बाध्य किए हुए के समान किससे प्रेरित होकर मनुष्य पाप का आचरण करता है ? (३.३६)

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष, रजोगुणसमुद्भवः ।

महाशनो महापाप्मा, विद्ध्येनम् इह वैरिणम् ॥३७॥

3.38** श्रीभगवान् बोले— रजोगुण से उत्पन्न यह काम है, यही क्रोध है, कभी भी पूर्ण नहीं होनेवाले इस महापापी काम को ही तुम (आध्यात्मिक मार्ग का) शत्रु जानो. (३.३७)

धूमेनाव्रियते वहनिर्, यथादर्शो मलेन च ।

यथोल्बेनावृतो गर्भस्, तथा तेनेदम् आवृतम् ॥३८॥

जैसे धुएँ से अग्नि और धूलि से दर्पण टक जाता है तथा जेर से गर्भ टका रहता है, वैसे ही काम आत्मज्ञान को टक देता है. (३.३८)

आवृतं ज्ञानम् एतेन, ज्ञानिनो नित्यवेरिणा ।

कामरूपेण कौन्तेय, दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

हे कौन्तेय (अर्जुन), अग्नि के समान कभी तृप्त न होनेवाले, ज्ञानियों के नित्य शत्रु, काम, के द्वारा ज्ञान टक जाता है. (३.३९)

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिर्, अस्याधिष्ठानम् उच्यते ।

एतैर् विमोहयत्य् एष, ज्ञानम् आवृत्य देहिनम् ॥४०॥

इन्द्रियां, मन और बुद्धि काम के निवास-स्थान कहे जाते हैं. यह काम इन्द्रियां, मन और बुद्धि को अपने वश में करके ज्ञान को टककर मनुष्य को भटका देता है. (३.४०)

काम पर विजय कैसे पाएँ

तस्मात् त्वम् इन्द्रियाण्यादौ, नियम्य भरतर्षभ ।

पाप्मानं प्रजहि ह्येनं, ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

इसलिए हे अर्जुन, तुम पहले अपनी इन्द्रियों को वश में करके, ज्ञान और विवेक के नाशक इस पापी कामरूपी शत्रु का विनाश करो. (३.४१)

इन्द्रियाणि पराण्याहर्, इन्द्रियेभ्यः परं मनः ।

मनसस् तु परा बुद्धिर्, यो बुद्धेः परतस् तु सः ॥४२॥

इन्द्रियां शरीर से श्रेष्ठ कही जाती हैं, इन्द्रियों से परे मन है और मन से परे बुद्धि है, बुद्धि से परे आत्मज्ञान और आत्मा सर्वश्रेष्ठ है. (कठ.उ. ३.१० तथा गीता ६.०७-०८ भी देखें.) (३.४२)

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा, संस्तभ्यात्मानम् आत्मना ।

जहि शत्रुं महाबाहो, कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

3.43** इस प्रकार आत्मा को मन और बुद्धि से श्रेष्ठ जानकर, (सेवा, ध्यान, पूजन आदि से की हुई शुद्ध) बुद्धि द्वारा मन को वश में करके, हे महाबाहो, तुम इस दुर्जय कामरूपी शत्रु का विनाश करो. (कठ.उ. ३.०३-०६ भी देखें.) (३.४३)

इस प्रकार कर्मयोग नामक तीसरा अध्याय पूर्ण हुआ.

अथ चतुर्थोऽध्यायः

ज्ञानकर्मसंन्यासयोगः

४. ज्ञानकर्मसंन्यासयोग

कर्मयोग पुरातन विस्मृत निर्देश है

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं, प्रोक्तवान् अहम् अव्ययम् ।

विवस्वान् मनवे प्राह, मनुर् इक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥

एवं परम्पराप्राप्तम्, इमं राजर्षयो विदुः ।

स कालेनेह महता, योगो नष्टः परंतप ॥२॥

स एवायं मया तेऽद्य, योगः प्रोक्तः पुरातनः ।

भक्तोऽसि मे सखा चेति, रहस्यं ह्येतद् उत्तमम् ॥३॥

श्रीभगवान् बोले— मैंने कर्मयोग के इस अविनाशी सिद्धान्त को सूर्यवंशी राजा विवस्वान् को सिखाया, विवस्वान् ने अपने पुत्र मनु से कहा तथा मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को सिखाया. इस प्रकार परम्परा से प्राप्त हुए कर्मयोग को राजर्षियों ने जाना; परन्तु हे परन्तप, बहुत दिनों के बाद यह ज्ञान इस पृथ्वीलोक में लुप्त-सा हो गया. तुम मेरे भक्त और प्रिय मित्र हो, इसलिए वही पुरातन कर्मयोग आज मैंने तुम्हें कहा है, क्योंकि यह कर्मयोग एक उत्तम रहस्य है. (४.०१-०३)

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म, परं जन्म विवस्वतः ।

कथम् एतद् विजानीयां, त्वम् आदौ प्रोक्तवान् इति ॥४॥

अर्जुन बोले— आपका जन्म तो अभी हुआ है तथा सूर्यवंशी राजा विवस्वान् का जन्म सृष्टि के आदि में हुआ था, अतः मैं कैसे जानूँ कि आप ही ने विवस्वान् से इस योग को कहा था ? (४.०४)

प्रभु के अवतार का उद्देश्य

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि, जन्मानि तव चार्जुन ।

तान्यहं वेद सर्वाणि, न त्वं वेत्थ परंतप ॥५॥

श्रीभगवान् बोले— हे अर्जुन, मेरे और तुम्हारे बहुत सारे जन्म हो चुके हैं, उन सबको मैं जानता हूँ, पर तुम नहीं जानते. (४.०५)

अजोऽपि सन्न अव्ययात्मा, भूतानाम् ईश्वरोऽपि सन् ।

प्रकृतिं स्वाम् अधिष्ठाय, संभवाम्यात्ममायया ॥६॥

यद्यपि मैं अजन्मा, अविनाशी तथा समस्त प्राणियों का ईश्वर हूँ, फिर भी अपनी प्रकृति को अधीन करके अपनी योगमाया से प्रकट होता हूँ. (१०.१४ भी देखें.) (४.०६)

यदा यदा हि धर्मस्य, स्तानिर् भवति भारत ।

अभ्युत्थानम् अधर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय, संभवामि युगे युगे ॥८॥

हे अर्जुन, जब-जब संसार में धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब अच्छे लोगों की रक्षा, दुष्टों का संहार तथा धर्म की संस्थापना के लिए मैं, परब्रह्म परमात्मा, हर युग में अवतरित होता हूँ. (तु.रा. १.१२०.०३-०४ भी देखें.) (४.०७-०८)

जन्म कर्म च मे दिव्यम्, एवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म, नैति माम् एति सोऽर्जुन ॥९॥

हे अर्जुन, मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं. इसे जो मनुष्य भलीभांति जान लेता है, उसका मरने के बाद पुनर्जन्म नहीं होता तथा वह मेरे लोक, परमधाम, को प्राप्त करता है. (४.०९)

वीतरागभयक्रोधा, मन्मया माम् उपाश्रिताः ।

बहवो ज्ञानतपसा, पूता मद्रावम् आगताः ॥१०॥

राग, भय और क्रोध से रहित, मुझमें तल्लीन, मेरे आश्रित तथा ज्ञानरूपी तप से पवित्र होकर, बहुत-से मनुष्य मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं. (४.१०)

प्रार्थना और भक्ति का मार्ग

ये यथा मां प्रपद्यन्ते, तांस् तथैव भजाम्यहम् ।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते, मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

हे अर्जुन, जो भक्त जिस किसी भी मनोकामना से मेरी पूजा करते हैं, मैं उनकी मनोकामना की पूर्ति करता हूँ. मनुष्य अनेक प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति के लिए मेरी शरण लेते हैं. (४.११)

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं, यजन्त इह देवताः ।

क्षिप्रं हि मानुषे लोके, सिद्धिर् भवति कर्मजा ॥१२॥

कर्मफल के इच्छुक संसार के साधारण मनुष्य देवताओं की पूजा करते हैं, क्योंकि मनुष्यलोक में कर्मफल शीघ्र ही प्राप्त होते हैं. (४.१२)

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं, गुणकर्मविभागशः ।

तस्य कर्तारम् अपि मां, विद्ध्य अकर्तारम् अव्ययम् ॥१३॥

मेरे द्वारा ही चारो वर्ण अपने-अपने गुण, स्वभाव और रुचि के अनुसार बनाए गए हैं. सृष्टि की रचना आदि कर्म के कर्ता होनेपर भी मुझ परमेश्वर को अविनाशी और अकर्ता ही जानना चाहिए. (क्योंकि प्रकृति के गुण ही संसार चला रहे हैं). (१८.४१ भी देखें.) (४.१३)

न मां कर्माणि लिम्पन्ति, न मे कर्मफले स्पृहा ।

इति मां योऽभिजानाति, कर्मभिर् न स बध्यते ॥१४॥

मुझे कर्म का बन्धन नहीं लगता, क्योंकि मेरी इच्छा कर्मफल में नहीं रहती है. इस रहस्य को जो व्यक्ति भलीभांति समझकर मेरा अनुसरण करता है, वह भी कर्म के बन्धनों से नहीं बंधता है. (४.१४)

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म, पूर्वैर् अपि मुमुक्षुभिः ।

कुरु कर्मैव तस्मात् त्वं, पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

प्राचीन काल के मुमुक्षुओं ने इस रहस्य को जानकर कर्म किए हैं. इसलिए तुम भी अपने कर्मों का पालन उन्हीं की तरह करो. (४.१५)

सकाम, निष्काम, और निषिद्ध कर्म

किं कर्म किम् अकर्मति, कवयोऽप्य् अत्र मोहिताः ।

तत् ते कर्म प्रवक्ष्यामि, यज् ज्ञात्वा मोक्षयसेऽशुभात् ॥१६॥

विद्वान् मनुष्य भी भ्रमित हो जाते हैं कि कर्म क्या है तथा अकर्म क्या है, इसलिए मैं तुम्हें कर्म के रहस्य को समझाता हूँ; जिसे जानकर तुम कर्म के बन्धनों से मुक्त हो जाओगे. (४.१६)

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं, बोद्धव्यं च विकर्मणः ।

अकर्मणश्च बोद्धव्यं, गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

सकाम कर्म, विकर्म अर्थात् पापकर्म तथा निष्कामकर्म (अर्थात् अकर्म) के स्वरूप को भलीभांति जान लेना चाहिए, क्योंकि कर्म की गति बहुत ही न्यारी है. (४.१७)

कर्मयोगी को कर्म-बन्धन नहीं

कर्मण्य् अकर्म यः पश्येद्, अकर्मणि च कर्म यः ।

स बुद्धिमान् मनुष्येषु, स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

4.18** जो मनुष्य कर्म में अकर्म तथा अकर्म में कर्म देखता है, वही ज्ञानी, योगी तथा समस्त कर्मों का करनेवाला है. (अपने को कर्ता नहीं मानकर प्रकृति के गुणों को ही कर्ता मानना कर्म में अकर्म तथा अकर्म में कर्म देखना कहलाता है.) (३.०५, ३.२७, ५.०८, १३.२९ भी देखें.) (४.१८)

यस्य सर्वे समारम्भाः, कामसंकल्पवर्जिताः ।

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं, तम् आहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥

जिसके सारे कर्मों के संकल्प ज्ञानरूपी अग्नि से जलकर स्वार्थरहित हो गए हैं, वैसे मनुष्य को ज्ञानीजन पण्डित कहते हैं. (४.१९)

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं, नित्यतृप्तो निराश्रयः ।

कर्मण्य् अभिप्रवृत्तोऽपि, नैव किञ्चित् करोति सः ॥२०॥

4.20** जो मनुष्य कर्मफल में आसक्ति का सर्वथा त्यागकर, परमात्मा में नित्यतृप्त रहता है तथा (भगवान् के सिवा) किसी का आश्रय नहीं लेता, वह कर्म करते हुए भी (वास्तव में) कुछ भी नहीं करता है (तथा अकर्म रहने के कारण कर्म के बन्धनों से सदा मुक्त रहता है.). (४.२०)

निराशीर् यतचित्तात्मा, त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।

शारीरं केवलं कर्म, कुर्वन् नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

जो आशारहित है, जिसके मन और इन्द्रियां वश में हैं, जिसने सब प्रकार के स्वामित्व का परित्याग कर दिया है, ऐसा मनुष्य शरीर से कर्म करता हुआ भी पाप (अर्थात् कर्म के बन्धन) को प्राप्त नहीं होता है. (४.२१)

यदृच्छालाभसंतुष्टो, द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।

समः सिद्धाव् असिद्धौ च, कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥

अपनेआप जो कुछ भी प्राप्त हो, उसमें संतुष्ट रहनेवाला, द्वन्द्वों से अतीत, ईर्ष्या से रहित तथा सफलता और असफलता में समभाववाला कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी कर्म के बन्धनों से नहीं बंधता है. (४.२२)

गतसङ्गस्य मुक्तस्य, ज्ञानावस्थितचेतसः ।

यज्ञायाचरतः कर्म, समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

जिसकी ममता तथा आसक्ति सर्वथा मिट गयी है, जिसका चित्त ज्ञान में स्थित है, ऐसे परोपकारी मनुष्य के कर्म के सभी बन्धन विलीन हो जाते हैं. (४.२३)

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्, ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।

ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं, ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

4.24** यज्ञ का अर्पण, घी, अग्नि तथा आहुति देनेवाला सभी परब्रह्म परमात्मा ही है. इस तरह जो सब कुछ में परमात्मा का ही स्वरूप देखता है, वह परमात्मा को प्राप्त होता है. (४.२४)

यज्ञ के विभिन्न प्रकार

दैवम् एवापरे यज्ञं, योगिनः पर्युपासते ।

ब्रह्माग्नाव् अपरे यज्ञं, यज्ञेनैवोपजुहवति ॥२५॥

कोई योगीजन **देवताओं का पूजनरूपी** यज्ञ करते हैं और दूसरे ज्ञानीजन ब्रह्मरूपी अग्नि में यज्ञ के द्वारा (**ज्ञानरूपी**) यज्ञ का हवन करते हैं. (४.२५)

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्य् अन्ये, संयमाग्निषु जुहवति ।

शब्दादीन् विषयान् अन्ये, इन्द्रियाग्निषु जुहवति ॥२६॥

अन्य योगी लोग श्रोत्रादि समस्त **इन्द्रियों का संयमरूपी** अग्नि में हवन करते हैं तथा कुछ लोग शब्दादि विषयों का इन्द्रियरूपी अग्नि में हवन करते हैं. (४.२६)

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि, प्राणकर्माणि चापरे ।

आत्मसंयमयोगाग्नौ, जुहवति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

दूसरे योगीजन सम्पूर्ण इन्द्रियों के और प्राणों के कर्मों का ज्ञान से प्रकाशित **आत्मसंयमयोगरूपी** अग्नि में हवन करते हैं. (४.२७)

द्रव्ययज्ञास् तपोयज्ञा, योगयज्ञास् तथापरे ।

स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च, यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

दूसरे साधक **द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ** तथा **योगयज्ञ** करते हैं और अन्य कठिन व्रत करनेवाले **स्वाध्याय** और **ज्ञानयज्ञ** करते हैं. (४.२८)

अपाने जुहवति प्राणं, प्राणेऽपानं तथापरे ।

प्राणापानगती रुद्ध्वा, प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

दूसरे कितने ही **प्राणायाम** करनेवाले योगीजन प्राण और अपान की गति को— अपानवायु में प्राणवायु का तथा प्राणवायु में अपानवायु का (**क्रियायोग** के द्वारा) हवन कर— रोक लेते हैं. (४.२९)

अपरे नियताहाराः, प्राणान् प्राणेषु जुहवति ।

सर्वेऽप्येते यज्ञविदो, यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

दूसरे साधक **नियमित आहार** करके प्राणवायु में प्राणवायु का हवन करते हैं. ये सभी यज्ञों को जाननेवाले हैं तथा यज्ञ के द्वारा इनके पाप नष्ट हो जाते हैं. (४.३०)

यज्ञशिष्टामृतभुजो, यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।

नायं लोकोऽस्त्य् अयज्ञस्य, कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

4.31*** हे कुरुश्रेष्ठ (अर्जुन), यज्ञ के **प्रसादरूप ज्ञानामृत** को प्राप्तकर योगीजन सनातन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करते हैं. यज्ञ न करनेवाले मनुष्य के लिए परलोक तो क्या, यह मनुष्य-लोक भी सुखदायक नहीं होता. (४.३८, ५.०६ भी देखें.) (४.३१)

एवं बहुविधा यज्ञा, वितता ब्रह्मणो मुखे ।

कर्मजान् विद्धि तान् सर्वान्, एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

वेदों में ऐसे अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया गया है. उन सब यज्ञों को तुम (शरीर, मन और इन्द्रियों की) क्रिया द्वारा सम्पन्न होनेवाले जानो. इस प्रकार जानकर तुम (कर्मबन्धन से) मुक्त हो जाओगे. (३.१४ भी देखें.) (४.३२)

ज्ञानयोग श्रेष्ठतर आध्यात्मिक अभ्यास है

श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाज्, ज्ञानयज्ञः परंतप ।

सर्वं कर्माखिलं पार्थ, ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

4.33*** हे परंतप अर्जुन, ज्ञानयज्ञ द्रव्ययज्ञ से श्रेष्ठ है, क्योंकि, हे पार्थ, तत्त्वज्ञान की प्राप्ति ही सारे कर्मों का लक्ष्य अर्थात् पराकाष्ठा है. (४.३३)

तद् विद्धि प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन सेवया ।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं, ज्ञानिनस् तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

उस तत्त्वज्ञान को तुम ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के पास जाकर, उन्हें आदर, जिज्ञासा तथा सेवा से प्रसन्न करके सीखो. तत्त्वदर्शी ज्ञानी मनुष्य तुम्हें तत्त्वज्ञान का उपदेश देंगे. (४.३४)

यज् ज्ञात्वा न पुनर् मोहम्, एवं यास्यसि पाण्डव ।

येन भूतान्य् अशेषेण, द्रक्ष्यस्य् आत्मन्य् अथो मयि ॥३५॥

जिसे जानकर तुम पुनः इस प्रकार भ्रम को नहीं प्राप्त होगे; तथा, हे अर्जुन, इस ज्ञान के द्वारा तुम संपूर्ण भूतों को आत्मा—अर्थात् मुझ परब्रह्म परमात्मा—में देखोगे. (६.२९, ६.३०, ११.०७, ११.१३ भी देखें.) (४.३५)

अपि चेद् असि पापेभ्यः, सर्वेभ्यः पापकृतमः ।

सर्वं ज्ञानप्लवेनैव, वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥

सब पापियों से अधिक पाप करनेवाला मनुष्य भी सम्पूर्ण पापरूपी समुद्र को ब्रह्मज्ञानरूपी नौका द्वारा निस्सन्देह पार कर जायगा. (४.३६)

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्, भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि, भस्मसात् कुरुते तथा ॥३७॥

4.37*** क्योंकि हे अर्जुन, जैसे प्रज्वलित अग्नि लकड़ी को जला देती है, वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि कर्म (के सारे बन्धनों) को भस्म कर देती है. (४.३७)

कर्मयोगी को स्वयं ही ज्ञान की प्राप्ति

न हि ज्ञानेन सदृशं, पवित्रम् इह विद्यते ।

तत् स्वयं योगसंसिद्धः, कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

4.38*** इस संसार में तत्त्वज्ञान के समान (अन्तःकरण को) शुद्ध करनेवाला निस्संदेह कुछ भी नहीं है. उस तत्त्वज्ञान को, ठीक समय आने पर, कर्मयोगी अपने-आप प्राप्त कर लेता है. (४.३१, ५.०६ भी देखें.) (४.३८)

श्रद्धावाँल लभते ज्ञानं, तत्परः संयतेन्द्रियः ।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिम् अचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

श्रद्धावान्, साधन-परायण और जितेन्द्रिय मनुष्य तत्त्वज्ञान को प्राप्तकर शीघ्र ही परम शान्ति को प्राप्त करता है. (४.३९)

अज्ञश्चाश्रद्धानश्च, संशयात्मा विनश्यति ।

नायं लोकोऽस्ति न परो, न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

विवेकहीन, श्रद्धाहीन तथा संशय करनेवाले (नास्तिक) मनुष्य का पतन होता है. संशय करनेवाले के लिए न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है. (४.४०)

ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों ही मोक्ष के लिए अनिवार्य

योगसंन्यस्तकर्माणं, ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।

आत्मवन्तं न कर्माणि, निबध्नन्ति धनंजय ॥४१॥

हे धनंजय अर्जुन, जिसने कर्मयोग के द्वारा समस्त कर्मों को परमात्मा में अर्पण कर दिया है तथा ज्ञान और विवेक द्वारा जिसके (परमात्मा के बारे में) समस्त संशयों का विनाश हो चुका है, ऐसे आत्मज्ञानी मनुष्य को कर्म नहीं बांधते हैं (४.४१)

तस्माद् अज्ञानसंभूतं, हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।

छित्त्वेन संशयं योगम्, आतिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

4.42** इसलिए, हे भरतवंशी अर्जुन, तुम अपने मन में स्थित इस अज्ञानजनित संशय को ज्ञानरूपी तलवार द्वारा काटकर समत्वरूपी कर्मयोग में स्थित होकर अपना कर्म (अर्थात् युद्ध) करो. (४.४२)

इस प्रकार ज्ञानकर्मसंन्यासयोग नामक चौथा अध्याय पूर्ण हुआ.

अथ पञ्चमोऽध्यायः

कर्मसंन्यासयोगः

५. कर्मसंन्यासयोग

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण, पुनर् योगं च शंससि ।

यच्छ्रेय एतयोर् एकं, तन् मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

अर्जुन बोले— हे कृष्ण, आप कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनों की प्रशंसा करते हैं. इन दोनों में एक, जो निश्चितरूप से कल्याणकारी हो, मेरे लिए कहिए. (५.०५ भी देखें.) (५.०१)

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च, निःश्रेयसकराव् उभौ ।

तयोस् तु कर्मसंन्यासात्, कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

श्रीभगवान् बोले— कर्मसंन्यास और कर्मयोग ये दोनों ही परम कल्याणकारक हैं, परन्तु दोनों में कर्मसंन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ है. (५.०२)

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी, यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।

निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो, सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ॥३॥

जो मनुष्य न किसी से द्वेष करता है और न किसी वस्तु की आकांक्षा करता है, वैसे मनुष्य को सदा संन्यासी ही समझना चाहिए; क्योंकि, हे महाबाहो, राग-द्वेषादि द्वन्द्वों से रहित मनुष्य सहज ही बन्धन-मुक्त हो जाता है. (५.०३)

दोनों मार्ग परमात्मा की ओर ले जाते हैं

सांख्ययोगो पृथग्बालाः, प्रवदन्ति न पण्डिताः ।

एकम् अप्य् आस्थितः सम्यग्, उभयोर् विन्दते फलम् ॥४॥

5.04** अज्ञानी लोग ही, न कि पण्डितजन, कर्मसंन्यास और कर्मयोग को एक दूसरे से भिन्न समझते हैं, क्योंकि इन दोनों में से किसी एक में भी अच्छी तरह से स्थित मनुष्य दोनों के फल को प्राप्त कर लेता है. (५.०४)

यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं, तद् योगैर् अपि गम्यते ।

एकं सांख्यं च योगं च, यः पश्यति स पश्यति ॥५॥

ज्ञानयोगियों द्वारा जो धाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियों द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है. अतः जो मनुष्य कर्मसंन्यास और कर्मयोग को फलरूप में एक देखता है, वही वास्तव में देखता (अर्थात् समझता) है. (६.०१, ६.०२ भी देखें.) (५.०५)

संन्यासस् तु महाबाहो, दुःखम् आप्तुम् अयोगतः ।

योगयुक्तो मुनिर् ब्रह्म, नचिरेणाधिगच्छति ॥६॥

5.06*** हे अर्जुन, कर्मयोग की निःस्वार्थ सेवा के बिना शुद्ध संन्यास-भाव (अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों में कर्तापन के भाव का त्याग) का प्राप्त होना कठिन है. सच्चा कर्मयोगी शीघ्र ही परमात्मा को प्राप्त करता है. (४.३१, ४.३८ भी देखें.) (५.०६)

योगयुक्तो विशुद्धात्मा, विजितात्मा जितेन्द्रियः ।

सर्वभूतात्मभूतात्मा, कुर्वन् अपि न लिप्यते ॥७॥

निर्मल अन्तःकरणवाला कर्मयोगी, जिसका मन और इन्द्रियां अपने वश में हैं और जो सभी प्राणियों में एक ही आत्मा को देखता है, कर्म करते हुए भी उनसे लिप्त नहीं होता. (५.०७)

कर्मयोगी प्रभु के लिए काम करता है

नैव किञ्चित् करोमीति, युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।

पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्, अश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन् ॥८॥

प्रलपन् विसृजन् गृहणन्, उन्मिषन् निमिषन् अपि ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु, वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥

तत्त्वज्ञान को जाननेवाला कर्मयोगी ऐसा समझता है कि मैं तो कुछ भी नहीं करता हूँ. देखता, सुनता, स्पर्श करता, सूँघता, खाता, चलता, सोता, श्वास लेता, देता, लेता, बोलता तथा आंखों को खोलता और बन्द करता हुआ भी वह ऐसा जानता है कि समस्त इन्द्रियां ही अपने-अपने विषयों में विचरण कर रही हैं. (३.२७, १३.२९, १४.१९ भी देखें.) (५.०८-०९)

ब्रह्मण्य् आधाय कर्माणि, सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।

लिप्यते न स पापेन, पद्मपत्रम् इवाम्भसा ॥१०॥

5.10** जो मनुष्य कर्मफल में आसक्ति का त्यागकर, सभी कर्मों को परमात्मा को अर्पण करता है, वह कमल के पत्ते की तरह पापरूपी जल से कभी लिप्त नहीं होता. (५.१०)

कायेन मनसा बुद्ध्या, केवलैर् इन्द्रियैर् अपि ।

योगिनः कर्म कुर्वन्ति, सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥

कर्मयोगीजन शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा आसक्ति को त्यागकर केवल अन्तःकरण की शुद्धि के लिए ही कर्म करते हैं. (५.११)

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा, शान्तिम् आप्नोति नैष्ठिकीम् ।

अयुक्तः कामकारेण, फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

कर्मयोगी कर्मफलासक्ति को त्यागकर (अर्थात् परमेश्वर को अर्पणकर) परम शान्ति को प्राप्त होता है और सकाम मनुष्य कर्मफल में आसक्ति के कारण बंध जाता है. (५.१२)

आत्मज्ञान का मार्ग

सर्वकर्माणि मनसा, संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।

नवद्वारे पुरे देही, नैव कुर्वन् न कारयन् ॥१३॥

कर्मयोगी सभी कर्मों (के फल में आसक्ति) को सर्वथा त्यागकर न कोई कर्म करता हुआ और न करवाता हुआ नौ द्वारवाले शरीररूपी घर में सुख से रहता है. (५.१३)

न कर्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः ।

न कर्मफलसंयोगं, स्वभावस् तु प्रवर्तते ॥१४॥

ईश्वर प्राणियों में कर्तापन, कर्म तथा कर्मफल के संयोग को वास्तव में नहीं रचता है. प्रकृति मां ही (अपने गुणों से) सब कुछ करवाती है. (५.१४)

नादत्ते कस्यचित् पापं, न चैव सुकृतं विभुः ।

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं, तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

ईश्वर किसी के पाप और पुण्य कर्म का भागी नहीं होता. अज्ञान के द्वारा ज्ञान के ढक दिए जाने के कारण ही सब जीव भ्रमित होते हैं (तथा पाप कर्म करते हैं). (५.१५)

ज्ञानेन तु तद् अज्ञानं, येषां नाशितम् आत्मनः ।

तेषाम् आदित्यवज् ज्ञानं, प्रकाशयति तत् परम् ॥१६॥

परन्तु जिनका अज्ञान तत्त्वज्ञान द्वारा नष्ट हो जाता है, उनका तत्त्वज्ञान सूर्य की तरह सच्चिदानन्द परमात्मा को प्रकाशित कर देता है. (५.१६)

तद्बुद्धयस् तदात्मानस्, तन्निष्ठास् तत्परायणाः ।

गच्छन्त्य् अपुनरावृत्तिं, ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

जिनका मन और जिनकी बुद्धि परमात्मा में स्थित है, परमात्मा में जिनकी निष्ठा है, ब्रह्म ही जिनका परम लक्ष्य है, ऐसे मनुष्य ज्ञान के द्वारा पापरहित होकर परमगति को प्राप्त होते हैं (अर्थात् उनका पुनर्जन्म नहीं होता). (५.१७)

आत्मज्ञानी के अन्य लक्षण

विद्याविनयसंपन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।

शुनि चैव श्वपाके च, पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

5.18** ज्ञानीजन (सबमें परमात्मा को ही देखने के कारण) विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण तथा गाय, हाथी, कुत्ते, चाण्डाल आदि सब को समभाव से देखते हैं. (६.२९ भी देखें.) (५.१८)

इहैव तैर् जितः सर्गो, येषां साम्ये स्थितं मनः ।

निर्दोषं हि समं ब्रह्म, तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

ऐसे समदर्शी मनुष्यों ने इसी जीवन में संसार के सम्पूर्ण कार्यों को सम्पन्न कर लिया है. वे ब्रह्म में ही स्थित रहते हैं, क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है. (१८.५५ तथा छा.उ. २.२३.०१ भी देखें.) (५.१९)

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य, नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ।

स्थिरबुद्धिर् असंमूढो, ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

जो मनुष्य प्रिय को प्राप्तकर हर्षित न हो और अप्रिय को प्राप्तकर उद्विग्न न हो, ऐसा स्थिरबुद्धि, संशयरहित और ब्रह्म को जाननेवाला मनुष्य परब्रह्म परमात्मा में नित्य स्थित रहता है. (५.२०)

बाह्यस्पर्शेष्व् असक्तात्मा, विन्दत्यात्मनि यत् सुखम् ।

स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा, सुखम् अक्षयम् अश्नुते ॥२१॥

ऐसा ब्रह्मयुक्त व्यक्तिअपने अन्तःकरण में ब्रह्मानन्द को प्राप्त कर इन्द्रियों के विषयों से अनासक्त हो जाता है और अविनाशी परम सुख का अनुभव करता है. (५.२१)

ये हि संस्पर्शजा भोगा, दुःखयोनय एव ते ।

आद्यन्तवन्तः कौन्तेय, न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

इन्द्रियों और विषयों के संयोग से उत्पन्न होनेवाले सुखों का आदि और अन्त होता है तथा वे (अन्त में) दुःख के कारण होते हैं. इसलिए, हे कौन्तेय, बुद्धिमान् मनुष्य उनमें आसक्त नहीं होते. (१८.३८ भी देखें.) (५.२२)

शक्नोतीहैव यः सोढुं, प्राक् शरीरविमोक्षणात् ।

कामक्रोधोद्वेगं, स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

जो मनुष्य मृत्यु से पहले काम और क्रोध से उत्पन्न होनेवाले वेग को सहन करने में समर्थ होता है, वही योगी है और वही सुखी है. (५.२३)

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्, तथान्तर ज्योतिर् एव यः ।

स योगी ब्रह्मनिर्वाणं, ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

जो योगी आत्मा में ही सुख पाता है, आत्मा में ही रमण करता है तथा आत्मज्ञानी है, वह ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् मुक्ति प्राप्त करता है. (५.२४)

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणम्, ऋषयः क्षीणकल्मषाः ।

छिन्नद्वैधा यतात्मानः, सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

जिनके सब पाप नष्ट हो गए हैं, जिनके सभी संशय ज्ञान द्वारा नष्ट हो चुके हैं, जिनका मन वश में है और जो सभी प्राणियों के हित में रत रहते हैं, ऐसे ब्रह्मवेत्ता मनुष्य ब्रह्म को प्राप्त होते हैं. (५.२५)

तीसरा मार्ग— भक्तिमय ध्यानयोग

कामक्रोधवियुक्तानां, यतीनां यतचेतसाम् ।

अभितो ब्रह्मनिर्वाणं, वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

काम और क्रोध से रहित, जीते हुए चित्तवाले तथा आत्मज्ञानी यतियों को आसानी से ब्रह्मनिर्वाण की प्राप्ति होती है. (५.२६)

स्पर्शान् कृत्वा बहिर् बाह्यांश्, चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।

प्राणापानौ समौ कृत्वा, नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्, मुनिर् मोक्षपरायणः ।

विगतेच्छाभयक्रोधो, यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

विषयों का चिन्तन न करता हुआ, नेत्रों की दृष्टि को भौंहों के बीच में स्थित करके, नासिका में विचरनेवाले प्राण और अपान वायु को सम करके, जिसकी इन्द्रियां, मन और बुद्धि वश में हैं, जो मोक्ष परायण है तथा जो इच्छा, भय और क्रोध से सर्वथा रहित है, वह मुनि सदा मुक्त ही है. (५.२७-२८)

भोक्तारं यज्ञतपसां, सर्वलोकमहेश्वरम् ।

सुहृदं सर्वभूतानां, ज्ञात्वा मां शान्तिम् ऋच्छति ॥२९॥

मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपों का भोक्ता, सम्पूर्ण लोकों का महेश्वर और समस्त प्राणियों का मित्र जानकर शान्ति को प्राप्त करता है. (५.२९)

इस प्रकार कर्मसंन्यासयोग नामक पांचवा अध्याय पूर्ण हुआ.

अथ षष्ठोऽध्यायः

आत्मसंयमयोगः

६. ध्यानयोग

कर्मयोगी भी संन्यासी है

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं, कार्यं कर्म करोति यः ।

स संन्यासी च योगी च, न निरग्निर् न चाक्रियः ॥१॥

6.01** श्रीभगवान् बोले— जो मनुष्य केवल कर्मफल (के भोग) के लिए ही कर्म नहीं करता, वही सच्चा संन्यासी और कर्मयोगी है, केवल अग्नि का त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं होता तथा क्रियाओं का त्यागनेवाला योगी नहीं होता. (६.०१)

यं संन्यासम् इति प्राहुर्, योगं तं विद्धि पाण्डव ।

न ह्य् असंन्यस्तसंकल्पो, योगी भवति कश्चन ॥२॥

हे पाण्डव, जिसे संन्यास कहते हैं, उसीको तुम कर्मयोग समझो, क्योंकि स्वार्थ के त्याग के बिना मनुष्य कर्मयोगी नहीं हो सकता. (५.0१, ५.0५, ६.0१, १८.0२ भी देखें.) (६.0२)

योग और योगी की परिभाषा

आरुरुक्षोर् मुनेर् योगं, कर्म कारणम् उच्यते ।

योगारूढस्य तस्यैव, शमः कारणम् उच्यते ॥३॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु, न कर्मस्व् अनुषज्जते ।

सर्वसंकल्पसंन्यासो, योगारूढस् तदोच्यते ॥४॥

6.03** निष्काम कर्मयोग को समत्वयोग की प्राप्ति का साधन कहा गया है और योगारूढ साधक के लिए समत्व (अर्थात् मानसिक संतुलन, आत्मसंयम) ही ईश्वरप्राप्ति का साधन है। जब मनुष्य इन्द्रियों के भोगों में तथा कर्मफल में आसक्त नहीं रहता, तब सम्पूर्ण कामनाओं का त्याग करनेवाले (संतुलित) व्यक्ति को योगी कहते हैं. (६.0३-0४)

मन श्रेष्ठतम मित्र, और सबसे बड़ा शत्रु भी

उद्धरेद् आत्मनात्मानं, नात्मानम् अवसादयेत् ।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुर्, आत्मैव रिपुर् आत्मनः ॥५॥

बन्धुर् आत्मात्मनस् तस्य, येनात्मैवात्मना जितः ।

अनात्मनस् तु शत्रुत्वे, वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

6.05** मनुष्य अपने मन और बुद्धि द्वारा अपना उद्धार करे तथा अपना पतन न करे, क्योंकि मन ही मनुष्य का मित्र भी है और मन ही मनुष्य का शत्रु भी. जिसने अपने मन और इन्द्रियों को बुद्धि द्वारा जीत लिया है, उसके लिए मन उसका मित्र होता है, परन्तु जिसकी इन्द्रियां वश में नहीं होतीं, उसके लिए मन शत्रु के समान आचरण करता है. (६.0५-0६)

जितात्मनः प्रशान्तस्य, परमात्मा समाहितः ।

शीतोष्णसुखदुःखेषु, तथा मानापमानयोः ॥७॥

जिसने मन को अपने वश में कर लिया है, वह सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख तथा मान-अपमान में शान्त रहता है, ऐसे जितेन्द्रिय मनुष्य का मन सदा परमात्मा में स्थित रहता है. (६.0७)

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा, कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।

युक्त इत्युच्यते योगी, समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥

ब्रह्मज्ञान और विवेक से परिपूर्ण, जितेन्द्रिय और समत्व बुद्धिवाला मनुष्य, जिसके लिए मिट्टी, पत्थर और सोना समान है, परमात्मा से युक्त अर्थात् योगी कहलाता है. (६.0८)

सुहृन्मित्रार्युदासीन-मध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।

साधुष्व् अपि च पापेषु, समबुद्धिर् विशिष्यते ॥९॥

जो मनुष्य सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी, सम्बन्धियों, धर्मात्माओं और पापियों में भी समान भाव रखता है, वह श्रेष्ठ समझा जाता है. (६.0९)

ध्यान के तरीके

योगी युञ्जीत सततम्, आत्मानं रहसि स्थितः ।

एकाकी यतचित्तात्मा, निराशीर् अपरिग्रहः ॥१०॥

आशारहित और स्वामित्वरहित साधक अपने मन और इन्द्रियों को वश में करके, एकान्त स्थान में अकेला बैठकर, मन को निरन्तर परमात्मा के ध्यान में लगाए. (६.१०)

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य, स्थिरम् आसनम् आत्मनः ।

नात्युच्छ्रितं नातिनीचं, चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा, यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।

उपविश्यासने युञ्ज्याद्, योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

साधक स्वच्छ भूमि के ऊपर क्रमशः कुश, मृगछाला और वस्त्र बिछे हुए अपने आसन पर जो न बहुत ऊंचा और न बहुत नीचा हो बैठकर मन को परमात्मा में एकाग्र करके, चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में करके, अन्तःकरण की शुद्धि के लिए ध्यानयोग का अभ्यास करे. (६.११-१२)

समं कायशिरोग्रीवं, धारयन्न अचलं स्थिरः ।

संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं, दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्, ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।

मनः संयम्य मच्चित्तो, युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

अपने शरीर, गर्दन और सिर को अचल और सीधा रखकर, कहीं दूसरी ओर न देखते हुए, अपनी आंख और ध्यान को नासिका के अग्र-भाग पर जमाकर, ब्रह्मचर्यव्रत में स्थित, भयमुक्त तथा शान्त होकर, मुझे ही अपना परम लक्ष्य मानकर, मुझमें ध्यान लगाए. (४.२९, ५.२७, ८.१०, ८.१२ भी देखें.) (६.१३-१४)

युञ्जन्न एवं सदात्मानं, योगी नियतमानसः ।

शान्तिं निर्वाणपरमां, मत्संस्थाम् अधिगच्छति ॥१५॥

इस तरह सदा मन को परमात्मा में ध्यान लगाने का अभ्यास कराता हुआ संयमित मनवाला योगी परम निर्वाणरूपी शान्ति (अर्थात् मुक्ति) प्राप्तकर मेरे पास आता है. (६.१५)

नात्यश्नतस् तु योगोऽस्ति, न चैकान्तम् अनश्नतः ।

न चाति स्वप्नशीलस्य, जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

परन्तु हे अर्जुन, यह योग उस मनुष्य के लिए सम्भव नहीं होता, जो अधिक खानेवाला है या बिल्कुल न खानेवाला है तथा जो अधिक सोनेवाला है या सदा जागनेवाला है. (६.१६)

युक्ताहारविहारस्य, युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।

युक्तस्वप्नावबोधस्य, योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

समस्त दुःखों का नाश करनेवाला यह योग नियमित आहार और विहार, कर्मों में यथायोग्य चेष्टा तथा यथायोग्य सोने और जागनेवाले को ही सिद्ध होता है. (६.१७)

यदा विनियतं चित्तम् , आत्मन्य् एवावतिष्ठते ।

निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो, युक्त इत्य् उच्यते तदा ॥१८॥

जब पूर्णरूप से वश में किया हुआ चित्त समस्त कामनाओं से रहित होकर परमात्मा में ही भलीभांति स्थित हो जाता है, तब मनुष्य योगी कहलाता है. (६.१८)

यथा दीपो निवातस्थो, नेङ्गते सोपमा स्मृता ।

योगिनो यतचित्तस्य, युञ्जतो योगम् आत्मनः ॥१९॥

जिस तरह वायुरहित स्थान में स्थित दीपक चलायमान नहीं होता; परमात्मा में लगे हुए योगी के समाहित चित्त की वैसी ही उपमा दी गई है. (६.१९)

यत्रोपरमते चित्तं, निरुद्धं योगसेवया ।

यत्र चैवात्मनात्मानं, पश्यन् आत्मनि तुष्यति ॥२०॥

जब ध्यानयोग के अभ्यास से चित्त शान्त हो जाता है, तब साधक परमात्मा को (ध्यान से शुद्ध हुए मन और) बुद्धि द्वारा देखकर परमात्मा में ही संतुष्ट रहता है. (६.२०)

सुखम् आत्यन्तिकं यत् तद् , बुद्धिग्राह्यम् अतीन्द्रियम्।

वेत्ति यत्र न चैवायं, स्थितश् चलति तत्त्वतः ॥२१॥

योगी इन्द्रियों से परे, बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य, अनन्त सुख का अनुभव करता है; जिसे पाकर वह परमात्मा से कभी दूर नहीं होता. (कठ.उ. ३.१२ भी देखें.) (६.२१)

यं लब्ध्वा चापरं लाभं, मन्यते नाधिकं ततः ।

यस्मिन् स्थितो न दुःखेन, गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥

परमात्मा की प्राप्ति के बाद साधक उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता. इस अवस्था में स्थित योगी बड़े भारी दुःख से भी विचलित नहीं होता. (६.२२)

तं विद्याद् दुःखसंयोग-वियोगं योगसंज्ञितम् ।

स निश्चयेन योक्तव्यो, योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

दुःख के संयोग से वियोग ही योग कहलाता है, जिसे जानना चाहिए, तथा इस ध्यानयोग का अभ्यास उत्साह और निश्चयपूर्वक करना चाहिए. (६.२३)

संकल्पप्रभवान् कामांस् , त्यक्त्वा सर्वान् अशेषतः ।

मनसैवेन्द्रियग्रामं, विनियम्य समन्ततः ॥२४॥

शनैः शनैर् उपरमेद् , बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा, न किञ्चिद् अपि चिन्तयेत् ॥२५॥

सम्पूर्ण सकाम कर्मों का परित्यागकर, बुद्धि द्वारा सभी इन्द्रियों को अच्छी तरह वश में करके, अन्य कुछ भी चिन्तन न करता हुआ, धीरे-धीरे अभ्यस्त बुद्धि द्वारा मन को परमात्मा में लगाकर साधक शान्ति प्राप्त करता है. (६.२४-२५)

यतो यतो निश्चरति, मनश्चञ्चलम् अस्थिरम् ।

ततस् ततो नियम्यैतद् , आत्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

6.26** यह चंचल और अस्थिर मन जिन-जिन विषयों में विचरण करे, हम मात्र दर्शक-रूप से अपने आत्मा द्वारा सदा उसका प्रेक्षण (सुखसिद्धि) करते रहें. (६.२६)

योगी कौन?

प्रशान्तमनसं ह्येनं, योगिनं सुखम् उत्तमम् ।

उपैति शान्तरजसं, ब्रह्मभूतम् अकल्मषम् ॥२७॥

जिसका मन शान्त है और जिसकी (काम, क्रोध, लोभ आदि) रजोगुणी प्रवृत्तियां नष्ट हो गई हैं, ऐसे पापरहित ब्रह्मस्वरूप योगी को परम आनन्द प्राप्त होता है. (६.२७)

युञ्जन् एवं सदात्मानं, योगी विगतकल्मषः ।

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शम् , अत्यन्तं सुखम् अश्नुते ॥२८॥

ऐसा पापरहित योगी अपने मन को सदा परमेश्वर में लगाता हुआ सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्मा की प्राप्तिरूपी परम आनन्द का अनुभव करता है. (६.२८)

सर्वभूतस्थम् आत्मानं, सर्वभूतानि चात्मनि ।

ईक्षते योगयुक्तात्मा, सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

6.29** योगयुक्त मनुष्य सब में सर्वव्यापी परमात्मा को तथा परमात्मा में सब को देखने के कारण समस्त प्राणियों को एकभाव से देखता है. (४.३५, ५.१८ भी देखें.) (६.२९)

यो मां पश्यति सर्वत्र, सर्वं च मयि पश्यति ।

तस्याहं न प्रणश्यामि, स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

6.30** जो मनुष्य सब जगह तथा सबमें मुझ सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्मा (श्रीकृष्ण) को ही देखता है और सबको मुझमें ही देखता है, मैं उससे अलग नहीं रहता तथा वह भी मुझसे दूर नहीं होता. (६.३०)

सर्वभूतस्थितं यो मां, भजत्य् एकत्वम् आस्थितः ।

सर्वथा वर्तमानोऽपि, स योगी मयि वर्तते ॥३१॥

जो मनुष्य अद्वैतभाव से सम्पूर्ण भूतों में मुझ परमात्मा को ही स्थित समझकर मेरी उपासना करता है, वैसा योगी, किसी भी हालत में क्यों न रहे, मुझमें ही स्थित रहता है. (६.३१)

आत्मौपम्येन सर्वत्र, समं पश्यति योऽर्जुन ।

सुखं वा यदि वा दुःखं, स योगी परमो मतः ॥३२॥

6.32** हे अर्जुन, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है, जो सबको अपने जैसा समझे और दूसरों के दुःख और पीड़ा का अनुभव कर सके. (६.३२)

चंचल मन को नियंत्रित करने के दो उपाय

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस् त्वया प्रोक्तः, साम्येन मधुसूदन ।

एतस्याहं न पश्यामि, चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण, प्रमाथि बलवद् दृढम् ।

तस्याहं निग्रहं मन्ये, वायोर इव सुदुष्करम् ॥३४॥

अर्जुन बोले— हे मधुसूदन, आपके द्वारा कहे गए ध्यानयोग की यह समत्व अवस्था मन के चंचल होने के कारण स्थायी नहीं हो सकती है; क्योंकि हे कृष्ण, यह मन बड़ा ही चंचल, दुष्ट, बलवान् और दृढ़ है. अतः इसे वश में करना वायु को वश में करने की तरह कठिन है. (६.३३-३४)

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो, मनो दुर्निग्रहं चलम् ।

अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

श्रीभगवान् बोले— हे महाबाहो, निस्सन्देह यह मन बड़ा ही चंचल और आसानी से वश में न होनेवाला है; परन्तु हे कुन्तीपुत्र, मन को (ध्यान आदि का) अभ्यास और वैराग्य के द्वारा वश में किया जाता है. (६.३५)

असंयतात्मना योगो, दुष्प्राप इति मे मतिः ।

वश्यात्मना तु यतता, शक्योऽवाप्तुम् उपायतः ॥३६॥

जिसका मन वश में नहीं है, उसके द्वारा परमात्मा की प्राप्ति कठिन है, परन्तु वश में किए हुए मनवाले प्रयत्नशील व्यक्ति को साधना करने से योग प्राप्त होना सहज है, ऐसा मेरा मत है. (६.३६)

असफल योगी की गति

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो, योगाच् चलितमानसः ।

अप्राप्य योगसंसिद्धिं, कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥

अर्जुन बोले— हे कृष्ण, श्रद्धालु, परन्तु असंयमी व्यक्ति, जो योग-मार्ग से विचलित हो जाता है, ऐसा साधक योग की सिद्धि को न प्राप्तकर किस गति को प्राप्त होता है ? (६.३७)

कच्चिन् नोभयविभ्रष्टश् , छिन्नाभ्रम् इव नश्यति ।

अप्रतिष्ठो महाबाहो, विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

हे महाबाहो कृष्ण, क्या भगवत्प्राप्ति के मार्ग से गिरकर आश्रय-रहित व्यक्ति (भोग और योग) दोनों से वंचित रहकर, छिन्न-भिन्न बादल की तरह नष्ट तो नहीं हो जाता ? (६.३८)

एतन् मे संशयं कृष्ण, छेत्तुम् अर्हस्य् अशेषतः ।

त्वदन्यः संशयस्यास्य, छेत्ता न ह्य् उपपद्यते ॥३९॥

हे कृष्ण, मेरे इस संशय को सम्पूर्ण रूप से दूर करने में आप ही समर्थ हैं, क्योंकि आपके सिवा कोई दूसरा इस संशय को दूर करनेवाला मिलना संभव नहीं है. (१५.१५ भी देखें.) (६.३९)

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र, विनाशस् तस्य विद्यते ।

न हि कल्याणकृत् कश्चिद् , दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

श्रीभगवान् बोले— हे अर्जुन, योगी का न तो इस लोक में न परलोक में ही नाश होता है. हे तात, शुभ काम करनेवाला कोई भी व्यक्ति दुर्गति को प्राप्त नहीं होता. (६.४०)

प्राप्य पुण्यकृतां लोकान् , उषित्वा शाश्वतीः समाः ।

शुचीनां श्रीमतां गेहे, योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

अथवा योगिनाम् एव, कुले भवति धीमताम् ।

एतद्धि दुर्लभतरं, लोके जन्म यद् ईदृशम् ॥४२॥

असफल योगी पुण्य कर्म करनेवालों के लोकों को प्राप्तकर, वहां बहुत समय तक रहकर फिर अच्छे आचरणवाले धनवान् मनुष्यों अथवा ज्ञानवान् योगियों के घर में जन्म लेता है, परन्तु इस प्रकार का जन्म संसार में बहुत ही दुर्लभ है. (६.४१-४२)

तत्र तं बुद्धिसंयोगं, लभते पौर्वदेहिकम् ।

यतते च ततो भूयः, संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

हे कुरुनन्दन अर्जुन, वहां उसे पूर्वजन्म में संग्रह किया हुआ ज्ञान अपनेआप ही प्राप्त हो जाता है तथा वह योगसिद्धि के लिए फिर प्रयत्न करता है. (६.४३)

पूर्वाभ्यासेन तेनैव, ह्रियते ह्य् अवशोऽपि सः ।

जिज्ञासुर् अपि योगस्य, शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

वह बेबस की तरह अपने पूर्वजन्म के संस्कारों के द्वारा परमात्मा की ओर सहज ही आकर्षित हो जाता है. भगवत्प्राप्ति के जिज्ञासु भी वेद में कहे हुए सकाम कर्मफल की प्राप्ति से आगे का फल प्राप्तकर लेता है.

प्रयत्नाद् यतमानस् तु, योगी संशुद्धकिल्बिषः ।

अनेकजन्मसंसिद्धस् , ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करनेवाला योगी पिछले अनेक जन्मों से धीरे-धीरे शुद्ध होता हुआ सारे पापों से रहित होकर परमगति (अर्थात् मुक्ति) को प्राप्त होता है. (६.४५)

श्रेष्ठतम योगी कौन ?

तपस्विभ्योऽधिको योगी, ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।

कर्मिभ्यश् चाधिको योगी, तस्माद् योगी भवार्जुन ॥४६॥

योगी सकाम भाववाले तपस्वियों से भी श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानियों से भी श्रेष्ठ है और सकाम कर्म करनेवालों से भी श्रेष्ठ है. अतः, हे अर्जुन, तुम योगी बनो. (६.४६)

योगिनाम् अपि सर्वेषां, मद्गतेनान्तरात्मना ।

श्रद्धावान् भजते यो मां, स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

समस्त योगियों में भी जो योगी-भक्त मुझमें तल्लीन होकर श्रद्धापूर्वक मेरी उपासना करता है, वही मेरे मत से सर्वश्रेष्ठ है. (१२.०२, १८.६६ भी देखें.) (६.४७)

इस प्रकार ध्यानयोग नामक छठा अध्याय पूर्ण हुआ.

अथ सप्तमोऽध्यायः

ज्ञानविज्ञानयोगः

७. ज्ञानविज्ञानयोग

श्रीभगवानुवाच

मय्य् आसक्तमनाः पार्थ, योगं युञ्जन् मदाश्रयः ।

असंशयं समग्रं मां, यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥

श्रीभगवान् बोले— हे पार्थ, अनन्य प्रेमसे मुझमें आसक्त मनवाले, मेरे आश्रित होकर अनन्य प्रेमभाव से योग का अभ्यास करते हुए तुम मुझे पूर्ण रूपसे निस्सन्देह कैसे जान सकोगे, उसे सुनो. (७.०१)

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानम् , इदं वक्ष्याम्य् अशेषतः ।

यज् ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज् , ज्ञातव्यम् अवशिष्यते ॥२॥

मैं तुम्हें ब्रह्म-अनुभूति (विज्ञान) सहित ब्रह्मविद्या (ज्ञान) प्रदान करूंगा, जिसे जानकर संसार में फिर और कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता है. (मु.उ. १.०१.०३ भी देखें.) (७.०२)

मनुष्याणां सहस्रेषु, कश्चिद् यतति सिद्धये ।

यतताम् अपि सिद्धानां, कश्चिन् मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

हजारों मनुष्यों में कोई एक मेरी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है और उन प्रयत्न करनेवाले सिद्ध योगियों में भी कोई एक मुझे पूर्ण रूप से जान पाता है. (७.०३)

प्रकृति, पुरुष, और आत्मा की परिभाषा

भूमिर् आपोऽनलो वायुः, खं मनो बुद्धिर् एव च ।

अहंकार इतीयं मे, भिन्ना प्रकृतिर् अष्टधा ॥४॥

मेरी प्रकृति पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार तत्त्व आठ प्रकार से विभाजित है. (१३.०५ भी देखें.) (७.०४)

अपरेयम् इतस् त्व् अन्यां, प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।

जीवभूतां महाबाहो, ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥

हे महाबाहो, उपरोक्त प्रकृति मेरी अपरा शक्ति है. इससे भिन्न मेरी एक दूसरी परा चेतन शक्ति (अर्थात् 'पुरुष') है, जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है. (७.०५)

एतद्योनीनि भूतानि, सर्वाणीत्य् उपधारय ।

अहं कृत्स्नस्य जगतः, प्रभवः प्रलयस् तथा ॥६॥

तुम ऐसा समझो कि इन दोनों शक्तियों (प्रकृति और पुरुष) के संयोग से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं; तथा मैं, परब्रह्म परमात्मा, ही सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का स्रोत हूँ. (१३.२६ भी देखें.) (७.०६)

परमात्मा सब वस्तुओं का आधार

मत्तः परतरं नान्यत् , किञ्चिद् अस्ति धनंजय ।

मयि सर्वम् इदं प्रोतं, सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥

7.07* हे धनंजय, मुझसे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है. यह सम्पूर्ण जगत् मुझ परब्रह्म परमात्मारूपी सूत में (हार की) मणियों की तरह पिरोया हुआ है. (७.०७)

रसोऽहम् अप्सु कौन्तेय, प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।

प्रणवः सर्ववेदेषु, शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च, तेजश्चास्मि विभावसौ ।

जीवनं सर्वभूतेषु, तपश् चास्मि तपस्विषु ॥९॥

हे अर्जुन, मैं जल में रस हूँ, चन्द्रमा और सूर्य में प्रकाश हूँ, सब वेदों में ओंकार हूँ, आकाश में शब्द और मनुष्यों में मनुष्यत्व हूँ. मैं पृथ्वी में पवित्र गन्ध और अग्नि में तेज हूँ. सम्पूर्ण भूतों का जीवन और तपस्वियों में तप हूँ. (७.०८-०९)

बीजं मां सर्वभूतानां, विद्धि पार्थ सनातनम् ।

बुद्धिर् बुद्धिमताम् अस्मि, तेजस् तेजस्विनाम् अहम् ॥१०॥

बलं बलवतां चाहं, कामरागविवर्जितम् ।

धर्माविरुद्धो भूतेषु, कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

हे पार्थ, सम्पूर्ण भूतों का सनातन बीज मुझे ही जानो. मैं बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज हूँ. (९.१८, १०.३९ भी देखें.) हे भरतश्रेष्ठ, मैं आसक्ति और कामना से रहित बलवानों का बल हूँ और मनुष्यों में धर्म के अनुकूल (सन्तान की उत्पत्ति मात्र के लिए) किए जानेवाला सम्भोग हूँ. (७.१०-११)

ये चैव सात्त्विका भावा, राजसास् तामसाश्च ये ।

मत्त एवेति तान् विद्धि, न त्व् अहं तेषु ते मयि ॥१२॥

जो भी सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक गुण हैं, उन सबको तुम मुझसे ही उत्पन्न हुआ जानो. (अतः) वे (गुण) मुझपर निर्भर करते हैं, परन्तु मैं उनके आश्रित या उनसे प्रभावित नहीं होता हूँ. (९.०४, ९.०५ भी देखें.) (७.१२)

त्रिभिर् गुणमयैर् भावैर् , एभिः सर्वम् इदं जगत् ।

मोहितं नाभिजानाति, माम् एभ्यः परम् अव्ययम् ॥१३॥

प्रकृति के इन तीनों गुणों के कार्यों से यह सारा संसार भ्रमित रहता है, अतः मनुष्य इन गुणों से परे मुझ अविनाशी परमात्मा को नहीं जानता है. (७.१३)

प्रभु की खोज किसको ?

दैवी ह्य एषा गुणमयी, मम माया दुरत्यया ।

माम् एव ये प्रपद्यन्ते, मायाम् एतां तरन्ति ते ॥१४॥

मेरी इस अलौकिक त्रिगुणमयी माया को पार करना बड़ा ही कठिन है; परन्तु जो मनुष्य मेरी शरण में आते हैं, वे इस माया को (आसानी से) पार कर जाते हैं. (१४. २६, १५.१९, १८.६६ भी देखें.) (७.१४)

न मां दुष्कृतिनो मूढाः, प्रपद्यन्ते नराधमाः ।

माययापहतज्ञाना, आसुरं भावम् आश्रिताः ॥१५॥

पाप कर्म करनेवाले, मूर्ख, आसुरी स्वभाववाले नीच मनुष्य तथा माया के द्वारा हरे हुए ज्ञानवाले मेरी शरण में नहीं आते हैं. (७.१५)

चतुर्विधा भजन्ते मां, जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।

आर्तो जिज्ञासुर् अर्थार्थी, ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

7.16** हे अर्जुन, चार प्रकार के उत्तम मनुष्य—दुःख से पीड़ित, परमात्मा को जानने की इच्छावाले जिज्ञासु, धन या किसी इष्टफल की इच्छावाले तथा ज्ञानी—मुझे भजते हैं. (तु.रा. १.२१.०३ भी देखें.) (७.१६)

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त, एकभक्तिर् विशिष्यते ।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम् , अहं स च मम प्रियः ॥१७॥

उन चार भक्तों में भी मुझमें निरन्तर लगा हुआ अनन्य भक्ति-युक्त ज्ञानी श्रेष्ठ है; क्योंकि मुझ परमात्मा को तत्त्व से जाननेवाले ज्ञानी भक्त को मैं अत्यन्त ही प्रिय हूँ और वह भी मुझे अत्यन्त प्रिय है. (७.१७)

उदाराः सर्व एवैते, ज्ञानी त्व् आत्मैव मे मतम् ।

आस्थितः स हि युक्तात्मा, माम् एवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

उपरोक्त सभी भक्त श्रेष्ठ हैं, परन्तु मेरी समझसे तत्त्वज्ञ तो साक्षात् मेरा ही स्वरूप है; क्योंकि युक्तात्मा उत्तम गति को प्राप्त कर मेरे परमधाम में निवास करता है. (९.२९ भी देखें.) (७.१८)

****बहूनां जन्मनाम् अन्ते, ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।**

वासुदेवः सर्वम् इति, स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

7.19** अनेक जन्मों के बाद यह ब्रह्मज्ञान प्राप्तकर कि "यह सब कुछ कृष्णमय है," मनुष्य मेरी शरण में आकर मुझे प्राप्त करता है; ऐसा महात्मा बहुत दुर्लभ है. (७.१९)

सब कुछ वस्तुतः ब्रह्म ही है, ब्रह्म से सब कुछ उत्पन्न होता है, उसी में निवास करता है और उसी में विलीन हो जाता है (छा.उ. ३.१४.०१). सब कुछ ब्रह्म ही है, वही सर्वत्र है. यह सारा जगत् ब्रह्म ही है (मु.उ. २.०२.११). वेदों और उपनिषदों की उक्ति है— चेतना ब्रह्म है (प्रज्ञानं ब्रह्म, ऋग्वेद, ऐत.उ. ३.०३). मैं ही ब्रह्म हूँ (अहं ब्रह्मास्मि, यजुर्वेद, बृह.उ. १.०४.१०). तुम भी ब्रह्म हो (तत्त्वमसि, सामवेद, छा.उ. ६.०८.०७). जीवात्मा ब्रह्म है (अयमात्मा ब्रह्म, अथर्ववेद, मा.उ. ०२). वह, जो एक है, इन सब वस्तुओं का रूप लेता है (ऋ.वे. ८.५८.०२). समस्त सृष्टि और सत्ता का समस्त क्रम ब्रह्म के भिन्न-भिन्न रूप को छोड़कर कुछ भी नहीं है.

कामैस् तैस्तैर् हृतज्ञानाः, प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।

तं तं नियमम् आस्थाय, प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

भोगों की कामना द्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, ऐसे मनुष्य अपने स्वभाव से प्रेरित होकर नियमपूर्वक देवताओं की पूजा करते हैं. (७.२०)

भक्ति के किसी भी वांछनीय रूप की मूर्ति में प्रभु का दर्शन

यो यो यां यां तनुं भक्तः, श्रद्धयार्चितुम् इच्छति ।

तस्य तस्याचलां श्रद्धां, ताम् एव विदधाम्य् अहम् ॥२१॥

स तया श्रद्धया युक्तस् , तस्याराधनम् ईहते ।

लभते च ततः कामान् , मयैव विहितान् हि तान् ॥२२॥

जो कोई सकाम भक्त जिस किसी भी देवता को श्रद्धापूर्वक पूजा चाहता है, मैं उस भक्त की श्रद्धा को उसी देवता के प्रति स्थिर कर देता हूँ. उस स्थिर श्रद्धा से युक्त वह मनुष्य अपने इष्टदेव की पूजा करता है और उस देवता के द्वारा इच्छित भोगों को निरस्यन्देह प्राप्त करता है. वास्तव में वे इष्टफल मेरे द्वारा ही दिए जाते हैं. (७.२१-२२)

अन्तवत् तु फलं तेषां, तद् भवत्य् अल्पमेधसाम् ।

देवान् देवयजो यान्ति, मद्भक्ता यान्ति माम् अपि ॥२३॥

परन्तु उन अल्पबुद्धिवाले मनुष्यों को (नाशवान्) देवताओं का दिया हुआ फल नाशवान् होता है. देवताओं को पूजनेवाले देवलोक को प्राप्त करते हैं तथा मेरे भक्त (परमधाम में आकर) मुझे ही प्राप्त करते हैं. (७.२३)

अव्यक्तं व्यक्तिम् आपन्नं, मन्यन्ते माम् अबुद्धयः ।

परं भावम् अजानन्तो, ममाव्ययम् अनुत्तमम् ॥२४॥

7.24** अज्ञानी मनुष्य मुझ परब्रह्म परमात्मा के मन, बुद्धि तथा वाणी से परे, परम अविनाशी दिव्य रूप को नहीं जानने और समझने के कारण ऐसा मान लेते हैं कि मैं बिना रूपवाला निराकार हूँ तथा (साधारण जीव की तरह) रूप धारण करता हूँ. (७.२४)

नाहं प्रकाशः सर्वस्य, योगमायासमावृतः ।

मूढोऽयं नाभिजानाति, लोको माम् अजम् अव्ययम् ॥२५॥

7.25** जो मूढ़ मनुष्य मुझ परब्रह्म परमात्मा के जन्मरहित, अविनाशी, दिव्य रूप को अच्छी तरह नहीं जान तथा समझ पाते हैं, उन सबके सामने अपनी योगमाया से छिपा हुआ मैं कभी प्रकट नहीं होता हूँ. (७.२५)

वेदाहं समतीतानि, वर्तमानानि चार्जुन ।

भविष्याणि च भूतानि, मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

हे अर्जुन, मैं भूत, वर्तमान और भविष्य के सब प्राणियों को जानता हूँ, परन्तु मुझे कोई नहीं जानता. (७.२६)

इच्छाद्वेषसमुत्थेन, द्वन्द्वमोहेन भारत ।

सर्वभूतानि संमोहं, सर्गे यान्ति परंतप ॥२७॥

येषां त्व् अन्तगतं पापं, जनानां पुण्यकर्मणाम् ।

ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता, भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

हे अर्जुन, राग और द्वेष से उत्पन्न (सुख-दुःखादि) द्वन्द्व द्वारा भ्रमित सभी प्राणी अत्यन्त अज्ञता को प्राप्त होते हैं; परन्तु निष्काम भाव से अच्छे कर्म करनेवाले जिन मनुष्यों के सारे पाप नष्ट हो गए हैं, वे राग-द्वेष-जनित भ्रम से मुक्त होकर दृढ़निश्चय कर मेरी भक्ति करते हैं. (७.२७-२८)

जरामरणमोक्षाय, माम् आश्रित्य यतन्ति ये ।

ते ब्रह्म तद् विदुः कृत्स्नम् , अध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

जो मेरे शरणागत होकर जन्म और मरण से मुक्ति पाने के लिए प्रयत्न करते हैं, वे उस परब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को तथा सारे कर्मों को पूर्ण रूप से जान जाते हैं. (७.२९)

साधिभूताधिदैवं मां, साधियज्ञं च ये विदुः ।

प्रयाणकालेऽपि च मां, ते विदुर् युक्तचेतसः ॥३०॥

जो युक्तचित्तवाले मनुष्य अन्त समय में भी मुझे ही अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ रूप से जानते हैं, वे मुझको ही प्राप्त होते हैं. (८.०४ भी देखें.) (७.३०)

इस प्रकार ज्ञानविज्ञानयोग नामक सप्तम अध्याय पूर्ण हुआ.

अथ अष्टमोऽध्यायः

अक्षरब्रह्मयोगः

८. अक्षरब्रह्मयोग

अर्जुन उवाच

किं तद् ब्रह्म किम् अध्यात्मं, किं कर्म पुरुषोत्तम ।

अधिभूतं च किं प्रोक्तम् , अधिदैवं किम् उच्यते ॥१॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र, देहेऽस्मिन् मधुसूदन ।

प्रयाणकाले च कथं, ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥

अर्जुन बोले— हे पुरुषोत्तम, ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? अधिभूत तथा अधिदैव किसे कहते हैं ? अधियज्ञ कौन है तथा वह इस देह में कैसे रहता है ? हे मधुसूदन, संयत चित्तवाले मनुष्य द्वारा अन्त समय में आप किस तरह जाने जाते हैं ? (८.०१-०२)

ब्रह्म, आत्मा, जीवात्मा और कर्म की परिभाषा

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं, स्वभावोऽध्यात्मम् उच्यते ।

भूतभावोद्भवकरो, विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥३॥

श्रीभगवान् बोले— परम अविनाशी परमात्मा (का एक अंश) ही अक्षरब्रह्म (या आत्मा) है. अक्षर ब्रह्म का स्वभाव अध्यात्म कहा जाता है. प्राणियों को उत्पन्न करनेवाली ब्रह्म की क्रिया-शक्ति को कर्म कहते हैं. (८.०३)

अधिभूतं क्षरो भावः, पुरुषश्चाधिदैवतम् ।

अधियज्ञोऽहम् एवात्र, देहे देहभृतां वर ॥४॥

हे श्रेष्ठ अर्जुन, नश्वर वस्तु को अधिभूत और अक्षरब्रह्म के विस्तार (नारायण आदि) को अधिदैव कहते हैं. इस शरीर में ईश्वररूप मैं, परब्रह्म परमात्मा, ही अधियज्ञ हूँ. (८.०४)

पुनर्जन्म का सिद्धान्त और कर्म

अन्तकाले च माम् एव, स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम् ।

यः प्रयाति स मद्भावं, याति नास्त्य् अत्र संशयः ॥५॥

जो मनुष्य अन्तकाल में भी मेरा ही स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, वह मुझे ही प्राप्त होता है. इसमें सन्देह नहीं है. (प्र.उ. ३.१० भी देखें.) (८.०५)

यं यं वापि स्मरन् भावं, त्यजत्य् अन्ते कलेवरम् ।

तं तं एवैति कौन्तेय, सदा तद्भावभावितः ॥६॥

हे अर्जुन, मनुष्य मरते समय जिस किसी भी भाव का स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है, वह सदा उस भाव के चिन्तन करने के कारण उसी भाव को प्राप्त होता है. (छा.उ. ३.१४.०१ भी देखें.) (८.०६)

प्रभु-प्राप्ति का एक सहज मार्ग

तस्मात् सर्वेषु कालेषु, माम् अनुस्मर युध्य च ।

मय्य् अर्पितमनोबुद्धिर्, माम् एवैष्यस्य् असंशयम् ॥७॥

8.07** इसलिए हे अर्जुन, तुम सदा मेरा स्मरण करो और अपना कर्तव्य करो. इस तरह मुझमें अर्पण किए मन और बुद्धि से युक्त होकर निस्सन्देह तुम मुझको ही प्राप्त होगे.

(१२.०८ भी देखें.) (८.०७)

अभ्यासयोगयुक्तेन, चेतसा नान्यगामिना ।

परमं पुरुषं दिव्यं, याति पार्थानुचिन्तयन् ॥८॥

हे पार्थ, परमात्मा के ध्यान के अभ्यास रूपी योग से युक्त, एकाग्र चित्त से परमात्मा का निरन्तर चिन्तन करता हुआ साधक परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होता है. (८.०८)

कविं पुराणम् अनुशासितारम्

अणोर् अणीयांसम् अनुस्मरेद् यः ।

सर्वस्य धातारम् अचिन्त्यरूपम्

आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥९॥

प्रयाणकाले मनसाचलेन

भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।

भ्रुवोर् मध्ये प्राणम् आवेश्य सम्यक्

स तं परं पुरुषम् उपैति दिव्यम् ॥१०॥

जो भक्त सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता, सूक्ष्म से सूक्ष्म, सबका पालन-पोषण करनेवाले, अचिन्त्यरूप, सूर्य के समान प्रकाशित तथा अविद्या से परे परमात्मा का सदा स्मरण करता है, वह अचल मन से योगबल के द्वारा प्राणको भृकुटी के बीच में अच्छी तरह से स्थापित करके शरीर छोड़ने पर परमात्मा को प्राप्त करता है. (कठ.उ. २.२०, यजु.वे. ३१.१८ तथा गीता ४.२९, ५.२७, ६.१३ भी देखें.) (८.०९-१०)

यद् अक्षरं वेदविदो वदन्ति

विशन्ति यद् यतयो वीतरागाः ।

यद् इच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति

तत् ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥

वेद के जाननेवाले विद्वान् जिसे अविनाशी कहते हैं, आसक्तिरहित यत्नशील महात्मा जिसे प्राप्त करते हैं और जिस परमपद की प्राप्ति के लिए साधक ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हैं, उसे मैं तुम्हें संक्षेप में कहूंगा. (कठ.उ. २.१५ भी देखें.) (८.११)

मृत्युकाल में प्रभु के ध्यान से मोक्ष-प्राप्ति

सर्वद्वाराणि संयम्य, मनो हृदि निरुध्य च ।

मूर्ध्नि आधायामनः प्राणम्, आस्थितो योगधारणाम् ॥१२॥

ओम् इत्य् एकाक्षरं ब्रह्म, व्याहरन् माम् अनुस्मरन् ।

यः प्रयाति त्यजन् देहं, स याति परमां गतिम् ॥१३॥

8.12** जो साधक सब इन्द्रियों को वश में करके, मन को परमात्मा में और प्राण को मस्तक में स्थापित कर तथा योगधारणा में स्थित होकर अक्षरब्रह्म की ध्वनि-शक्ति, ओंकार, का उच्चारण करके मेरा स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है, वह परमगति को प्राप्त होता है. (८.१२-१३)

ध्यान की एक सहज विधि

अनन्यचेताः सततं, यो मां स्मरति नित्यशः ।

तस्याहं सुलभः पार्थ, नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

8.14** हे अर्जुन, जो मुझमें ध्यान लगाकर नित्य मेरा स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगी को मैं सहज ही प्राप्त होता हूँ. (८.१४)

माम् उपेत्य पुनर्जन्म, दुःखालयम् अशाश्वतम् ।

नाप्नुवन्ति महात्मानः, संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

महात्मा लोग परम सिद्धिरूपी मुझे प्राप्त करने के बाद फिर इस नश्वर, दुःख-भरे सन्सार में पुनर्जन्म नहीं लेते. (८.१५)

आब्रह्मभुवनाल् लोकाः, पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।

माम् उपेत्य तु कौन्तेय, पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

हे अर्जुन, ब्रह्मलोक के नीचे के सभी लोकों के प्राणियों का पुनर्जन्म होता है; परन्तु हे कुन्ती-पुत्र, मेरा लोक अर्थात् परमधाम प्राप्त होने पर मनुष्य का पुनर्जन्म नहीं होता. (९.२५ भी देखें.) (८.१६)

सृष्टि में सब कुछ आवर्ती है

सहस्रयुगपर्यन्तम्, अहर् यद् ब्रह्मणो विदुः ।

रात्रिं युगसहस्रान्तां, तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

जो लोग यह जानते हैं कि ब्रह्माजी के एक दिन की अवधि एक हजार युग (एक कल्प अर्थात् ४.३२ अरब वर्ष) है तथा उनकी एक रात की अवधि भी एक हजार युग है, वे दिन और रात को जाननेवाले हैं. (८.१७)

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः, प्रभवन्त्य् अहरागमे ।

रात्र्यागमे प्रलीयन्ते, तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥

ब्रह्माजी के दिन के आरम्भ में अव्यक्त अक्षर ब्रह्म (अर्थात् आदि प्रकृति) से सारा जगत् उत्पन्न होता है, तथा ब्रह्माजी की रात्रि के आने पर जगत् उस अव्यक्त में ही विलीन हो जाता है. (८.१८)

भूतग्रामः स एवायं, भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।

रात्र्यागमेऽवशः पार्थ, प्रभवत्य् अहरागमे ॥१९॥

8.19** हे पार्थ, वही प्राणिसमुदाय अवश-जैसा हुआ बार-बार ब्रह्माजी के दिन में उत्पन्न तथा ब्रह्माजी की रात्रि में विलीन होता रहता है. (८.१९)

परस् तस्मात् तु भावोऽन्यो ऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः ।

यः स सर्वेषु भूतेषु, नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्य् उक्तस् , तम् आहुः परमां गतिम् ।

यं प्राप्य न निवर्तन्ते, तद् धाम परमं मम ॥२१॥

परन्तु इस क्षर प्रकृति से परे एक दूसरी अविनाशी आदि प्रकृति है, जो सब भूतों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होती. उसीको अव्यक्त अक्षरब्रह्म अर्थात् परमगति कहा गया है, वही मेरा परमधाम है, जिसे प्राप्तकर मनुष्य आवागमन के बन्धनों से मुक्त हो जाता है. (८.२०-२१)

पुरुषः स परः पार्थ, भक्त्या लभ्यस् त्व अनन्यया ।

यस्यान्तःस्थानि भूतानि, येन सर्वम् इदं ततम् ॥२२॥

हे पार्थ, सभी प्राणी जिस परमात्मा के अन्दर हैं तथा जिससे यह सारा संसार व्याप्त है, वह परम पुरुष परमात्मा अनन्यभक्ति से ही प्राप्त होता है. (९.०४, ११.५५ भी देखें.) (८.२२)

संसार से जाने के दो प्रमुख मार्ग

यत्र काले त्व अनावृत्तिम् , आवृत्तिं चैव योगिनः ।

प्रयाता यान्ति तं कालं, वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

हे भरतकुल-श्रेष्ठ, जिस मार्ग द्वारा शरीर त्यागकर गए हुए योगीजन वापस न लौटनेवाली गति को और वापस लौटनेवाली गति को प्राप्त होते हैं, उन दोनों मार्गों को मैं तुम्हें बताऊंगा. (८.२३)

अग्निर् ज्योतिर् अहः शुक्लः, षण्मासा उत्तरायणम् ।

तत्र प्रयाता गच्छन्ति, ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

जो ब्रह्मविद् साधकजन अग्नि, प्रकाश, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण के छः मासवाले (ज्ञान का प्रकाश) मार्ग द्वारा जाते हैं, वे ब्रह्म को प्राप्त होते हैं (तथा पुनः संसार में वापस नहीं आते हैं). (छा.उ. ४.१५.०५, ५.१०.०१, बृह.उ. ६.२.१५, प्र.उ.१.१० तथा ईशा.उ. १८ भी देखें.) (८.२४)

धूमो रात्रिस् तथा कृष्णः, षण्मासा दक्षिणायनम् ।

तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर् , योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन के छः मासवाले (अज्ञान) मार्ग से जानेवाला सकाम योगी स्वर्ग जाकर पुनः वापस आता है. (छा.उ. ५.१०.०३-०५, ब्र.सू. ३.०१.०८ तथा गीता ९.२१ भी देखें.) (८.२५)

आत्मज्ञान से ही मुक्ति

शुक्लकृष्णे गती ह्येते, जगतः शाश्वते मते ।

एकया यात्य् अनावृत्तिम् , अन्ययावर्तते पुनः ॥२६॥

8.26** जगत् में ये दो शुक्ल और कृष्ण (अर्थात् ज्ञान और अज्ञान) सनातन मार्ग माने गए हैं. इनमें ज्ञानमार्ग के द्वारा जानेवालों को लौटना नहीं पड़ता और अज्ञान मार्गवालों को लौटना पड़ता है. (८.२६)

नैते सृती पार्थ जानन् , योगी मुह्यति कश्चन ।

तस्मात् सर्वेषु कालेषु, योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

हे पार्थ, इन दो मार्गों को तत्त्व से जाननेवाला कोई भी योगी भ्रमित नहीं होता. इसलिए, हे अर्जुन, तुम सदा योगयुक्त रहो. (८.२७)

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव

दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।

अत्येति तत् सर्वम् इदं विदित्वा

योगी परं स्थानम् उपैति चाद्यम् ॥२८॥

योगी इस अध्याय को समझकर वेदों में, यज्ञों में, तपों में तथा दान में जो पुण्यफल कहे गए हैं, उन सबको लांच जाता है और परब्रह्म परमात्मा के परमधाम को प्राप्त करता है. (८.२८)

इस प्रकार अक्षरब्रह्मयोग नामक आठवां अध्याय पूर्ण हुआ.

अथ नवमोऽध्यायः

राजविद्याराजगुह्ययोगः

९. राजविद्याराजगुह्ययोग

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं, प्रवक्ष्याम्य् अनसूयवे ।

ज्ञानं विज्ञानसहितं, यज् ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥

श्रीभगवान् बोले— दोषदृष्टि-रहित तुमको मैं इस परम गुह्य ब्रह्मविद्या (ज्ञान) को ब्रह्म अनुभूति (विज्ञान) सहित बताता हूँ, जिसे जानकर तुम जन्म-मरण के दुःखरूपी संसार से मुक्त हो जाओगे. (९.०१)

ब्रह्म का तत्त्वज्ञान एक परम रहस्य है

राजविद्या राजगुह्यं, पवित्रम् इदम् उत्तमम् ।

प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं, सुसुखं कर्तुम् अव्ययम् ॥२॥

यह तत्त्वज्ञान सब विद्याओं का राजा, रहस्यमय, अत्यन्त पवित्र, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त, साधन में सुगम तथा अविनाशी है. (९.०२)

अश्रद्धधानाः पुरुषा, धर्मस्यास्य परंतप ।

अप्राप्य मां निवर्तन्ते, मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥३॥

हे परन्तप अर्जुन, इस धर्म में श्रद्धा न रखनेवाले मनुष्य मुझे न प्राप्तकर मृत्युरूपी संसार में बारम्बार जन्म लेते हैं. (९.०३)

मया ततम् इदं सर्वं, जगद् अव्यक्तमूर्तिना ।

मत्स्थानि सर्वभूतानि, न चाहं तेषु अवस्थितः ॥४॥

यह सारा संसार मुझे परब्रह्म परमात्मा की आदि प्रकृति अर्थात् अव्यक्त अक्षरब्रह्म का विस्तार है. सभी मुझपर आश्रित या स्थित रहते हैं, मैं उनपर आश्रित नहीं रहता. (७.१२ भी देखें.) (९.०४)

न च मत्स्थानि भूतानि, पश्य मे योगम् ऐश्वरम् ।

भूतभृन् न च भूतस्थो, ममात्मा भूतभावनः ॥५॥

मेरी ईश्वरीय योगशक्ति को देखो कि वास्तव में मैं सभी भूतों को उत्पन्न तथा पोषण करनेवाला उनपर आश्रित नहीं रहता तथा वे सब भी मुझपर आश्रित नहीं रहते. (भा.पु. २.०९.३४-३६ भी देखें.) (९.०५)

द्वैत सिद्धान्त के दृष्टिकोण से लहरें सागर पर निर्भर करती हैं, सागर लहरों पर नहीं. किन्तु अद्वैतवाद के दृष्टिकोण से, जिसका वर्णन अगले श्लोक में हुआ है, लहरों के सागर पर या सागर का लहरों पर निर्भर करने का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि न लहरें हैं, न सागर, सभी जल ही है. इसी प्रकार सब कुछ ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है (गीता ७.१९).

यथाकाशस्थितो नित्यं, वायुः सर्वत्रगो महान् ।

तथा सर्वाणि भूतानि, मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

जैसे सर्वत्र विचरण करनेवाली महान वायु सदा आकाश में (बिना कोई सहारा लिए) स्थित रहती है, वैसे ही सभी मुझमें स्थित रहते हैं, ऐसा समझो. (९.०६)

सृष्टि-रचना और प्रलय का सिद्धान्त

सर्वभूतानि कौन्तेय, प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।

कल्पक्षये पुनस् तानि, कल्पादौ विसृजाम्य अहम् ॥७॥

हे अर्जुन, एक महाकल्प (अर्थात् ३११३१०^{१२} वर्ष या द्वादश त्रिल्लिङ्गि-स्फुर-अर-अर) के अन्त में सम्पूर्ण सृष्टि का मेरी आदि प्रकृति में लय हो जाता है और दूसरे महाकल्प के प्रारम्भ में मैं फिर उसकी रचना करता हूँ. (९.०७)

प्रकृतिं स्वाम् अवष्टभ्य, विसृजामि पुनः पुनः ।

भूतग्रामम् इमं कृत्स्नम्, अवशं प्रकृतेर् वशात् ॥८॥

मैं अपनी मायारूपी प्रकृति के द्वारा इन समस्त प्राणि-समुदाय को जो प्रकृति (के गुणों) के वश में रहते हैं बार-बार रचता हूँ. (९.०८)

न च मां तानि कर्माणि, निबध्नन्ति धनंजय ।

उदासीनवद् आसीनम्, असक्तं तेषु कर्मसु ॥९॥

हे अर्जुन, सृष्टि की रचना आदि कर्मों में अनासक्त और उदासीन रहने के कारण वे कर्म मुझे (परमात्मा) को नहीं बांधते. (९.०९)

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः, सृयते सचराचरम् ।

हेतुनानेन कौन्तेय, जगद् विपरिवर्तते ॥१०॥

हे अर्जुन, मेरी अध्यक्षता में माया देवी (अपनी प्रकृति के द्वारा) चराचर जगत् को उत्पन्न करती है. इस तरह सृष्टि-चक्र चलता रहता है. (१४.०३ भी देखें.) (९.१०)

ज्ञानी और अज्ञानी के मार्ग

अवजानन्ति मां मूढा, मानुषीं तनुम् आश्रितम् ।

परं भावम् अजानन्तो, मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

मोघाशा मोघकर्माणो, मोघज्ञाना विचेतसः ।

राक्षसीम् आसुरीं चैव, प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

मुझे परमेश्वर के परम भाव को नहीं जानने के कारण जब मैं मनुष्य का शरीर धारण करता हूँ मूढ़ लोग (मुझे साधारण मनुष्य समझकर) मेरा अनादर करते हैं, क्योंकि वे राक्षसी और आसुरी स्वभाव से मोहित, वृथा आशा, वृथा कर्म तथा वृथा ज्ञानवाले अविचारी मनुष्य (मुझे नहीं पहचान पाते) हैं. (९.११-१२)

महात्मानस् तु मां पार्थ, दैवीं प्रकृतिम् आश्रिताः ।

भजन्त्यु अनन्यमनसो, ज्ञात्वा भूतादिम् अव्ययम् ॥१३॥

परन्तु हे अर्जुन, दैवी स्वभाववाले महात्मा लोग मुझे अविनाशी तथा सम्पूर्ण प्राणियों का दोनों—उपादान और निमित्त—कारण समझकर अनन्य मन से मेरी भक्ति करते हैं. (९.१३)

सततं कीर्तयन्तो मां, यतन्तश्च दृढव्रताः ।

नमस्यन्तश्च मां भक्त्या, नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

मेरा सतत कीर्तन करते हुए, प्रयत्नशील, दृढव्रती साधक मुझे नमस्कार करके भक्तिपूर्वक निरन्तर मेरी उपासना करते हैं. (९.१४)

ज्ञानयज्ञेन चाप्यु अन्ये, यजन्तो माम् उपासते ।

एकत्वेन पृथक्त्वेन, बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

कोई साधक ज्ञानयज्ञ के द्वारा, कोई अद्वैतभाव से, दूसरे द्वैतभाव से तथा कोई अनेक प्रकार से पूजा करके मुझे विराट्स्वरूप परमेश्वर की उपासना करते हैं. (९.१५)

सब कुछ परमात्मा का ही विस्तार है

अहं क्रतुर् अहं यज्ञः, स्वधाहम् अहम् औषधम् ।

मन्त्रोऽहम् अहम् एवाज्यम् , अहम् अग्निर् अहं हुतम् ॥१६॥

पिताहम् अस्य जगतो, माता धाता पितामहः ।

वेद्यं पवित्रम् ओंकार, ऋक् साम यजुर् एव च ॥१७॥

गतिर् भर्ता प्रभुः साक्षी, निवासः शरणं सुहृत् ।

प्रभवः प्रलयः स्थानं, निधानं बीजम् अव्ययम् ॥१८॥

धार्मिक संस्कार मैं हूँ, यज्ञ मैं हूँ, स्वधा मैं हूँ, औषध मैं हूँ, मंत्र मैं हूँ, घी मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ तथा हवन-कर्म भी मैं ही हूँ. (४.२४ भी देखें.) मैं ही इस जगत् का पिता, माता, धारण करनेवाला और पितामह हूँ. मैं ही जाननेयोग्य वस्तु हूँ; पवित्र ओंकार, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ. प्राप्त करने योग्य परमधाम, भरण करनेवाला, सबका स्वामी, साक्षी, निवासस्थान, शरण लेने योग्य, मित्र, उत्पत्ति, प्रलय, आधार, निधान और अविनाशी कारण भी मैं ही हूँ. (७.१०, १०.३९ भी देखें.) (९.१६-१८)

तपाम्य् अहम् अहं वर्षं, निगृहणाम्य् उत्सृजामि च ।

अमृतं चैव मृत्युश्च, सद् असच् चाहम् अर्जुन ॥१९॥

हे अर्जुन, मैं ही (संसार के हित के लिए) सूर्यरूप से तपाता हूँ, मैं वर्षा का निग्रह और उत्सर्जन करता हूँ. **अमृत और मृत्यु तथा सत् और असत् भी मैं ही हूँ.** (१३.१२ भी देखें.) (९.१९)

अनन्यभक्ति (ज्ञान) द्वारा मोक्ष प्राप्ति

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा

यज्ञैर् इष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।

ते पुण्यम् आसाद्य सुरेन्द्रलोकम्

अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥२०॥

तीनों वेदों में कहे हुए सकाम कर्म करनेवाले, (भक्तिरूपी) सोमरस पान करनेवाले, पापरहित मनुष्य मुझे यज्ञ के द्वारा पूजकर स्वर्ग प्राप्त करने की प्रार्थना करते हैं, वे अपने पुण्यों के फलरूप इन्द्रलोक को प्राप्तकर स्वर्ग में दिव्य देवताओं के भोगों को भोगते हैं (९.२०)

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।

एवं त्रयीधर्मम् अनुप्रपन्ना

गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

वे लोग उस विशाल स्वर्गलोक के भोगों को भोगकर, पुण्य समाप्त होने पर फिर मृत्युलोक में आते हैं. इस प्रकार तीनों वेदों में कहे हुए सकाम कर्म करनेवाले मनुष्य आवागमन को प्राप्त होते हैं. (८.२५ भी देखें.) (९.२१)

अनन्याश् चिन्तयन्तो मां, ये जनाः पर्युपासते ।

तेषां नित्याभियुक्तानां, योगक्षेमं वहाम्य् अहम् ॥२२॥

9.22 जो भक्तजन अनन्यभावसे चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उन नित्ययुक्त भक्तों का योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ. (९.२२)**

येऽप्य् अन्यदेवता भक्ता, यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।

तेऽपि माम् एव कौन्तेय, यजन्त्य् अविधिपूर्वकम् ॥२३॥

हे कुन्तीनन्दन अर्जुन, जो भक्त श्रद्धापूर्वक दूसरे देवी-देवताओं को पूजते हैं, वे भी मेरा ही पूजन करते हैं—पर अज्ञानपूर्वक. (९.२३)

अहं हि सर्वयज्ञानां, भोक्ता च प्रभुर् एव च ।

न तु माम् अभिजानन्ति, तत्त्वेनातश् च्यवन्ति ते ॥२४॥

क्योंकि, सब यज्ञों का भोक्ता और स्वामी मैं ही परब्रह्म परमात्मा हूँ; परन्तु वे मुझ (परमेश्वर के अधियज्ञ स्वरूप) को तत्त्व से नहीं जानते, इसीसे उनका पतन अर्थात् आवागमन होता है. (९.२४)

यान्ति देवव्रता देवान् , पितॄन् यान्ति पितृव्रताः ।

भूतानि यान्ति भूतेज्या, यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥

देवताओं को पूजनेवाले देवलोक जाते हैं, पितरों को पूजनेवाले पितृलोक जाते हैं, भूत-प्रेतों को पूजनेवाले भूत-प्रेतों के लोक को जाते हैं तथा मेरी पूजा करनेवाले भक्त मेरे परमधाम को जाते हैं (और उनका पुनर्जन्म नहीं होता). (८.१६ भी देखें.) (९.२५)

पत्रं पुष्पं फलं तोयं, यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।

तद् अहं भक्त्युपहृतम् , अश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

जो मनुष्य प्रेमभक्ति से पत्र, फूल, फल, जल आदि कोई भी वस्तु मुझे अर्पण करता है, मैं उस शुद्धचित्तवाले भक्त का वह प्रेमोपहार केवल स्वीकार ही नहीं करता, बल्कि उसका भोग भी करता हूँ. (भा.पु. १०.८१.०४ भी देखें.) (९.२६)

यत् करोषि यद् अश्नासि, यज् जुहोषि ददासि यत् ।

यत् तपस्यसि कौन्तेय, तत् कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

9.27 हे अर्जुन, तुम जो कुछ कर्म करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ हवन करते हो, जो दान देते हो, जो तप करते हो, वह सब मुझे ही अर्पण करो. (१२.१०, १८.४६ भी देखें.) (९.२७)**

शुभाशुभफलैर् एवं, मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।

संन्यासयोगयुक्तात्मा, विमुक्तो माम् उपैष्यसि ॥२८॥

इस प्रकार संन्यासयोगयुक्त होकर कार्य करने से तुम कर्मफल के शुभ और अशुभ दोनों बन्धनों से मुक्त होकर मुझे ही प्राप्त करोगे. (९.२८)

कोई अक्षम्य पापी नहीं

समोऽहं सर्वभूतेषु, न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या, मयि ते तेषु चाप्य् अहम् ॥२९॥

सभी प्राणी मेरे लिए बराबर हैं. न मेरा कोई अप्रिय है और न प्रिय; परन्तु जो श्रद्धा और प्रेम से मेरी उपासना करते हैं, वे मेरे समीप रहते हैं और मैं भी उनके निकट रहता हूँ. (७.१८ भी देखें.) (९.२९)

अपि चेत् सुदुराचारो, भजते माम् अनन्यभाक् ।

साधुर् एव स मन्तव्यः, सम्यग् व्यवसितो हि सः ॥३०॥

यदि कोई बड़े-से-बड़ा दुराचारी भी अनन्य भक्ति-भाव से मुझे भजता है, तो उसे भी साधु ही मानना चाहिए, क्योंकि उसने सही निश्चय किया है. (९.३०)

भक्तिमार्ग अन्य मार्गों से सहज

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा, शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।

कौन्तेय प्रतिजानीहि, न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

और वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है तथा परम शान्ति को प्राप्त होता है. हे अर्जुन, तुम यह निश्चयपूर्वक सत्य मानो कि मेरे भक्त का कभी भी विनाश अर्थात् पतन नहीं होता है. (९.३१)

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य, येऽपि स्युः पापयोनयः ।

स्त्रियो वैश्यास् तथा शूद्रास्, तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

हे अर्जुन, स्त्री, वैश्य, शूद्र, पापी आदि जो कोई भी मेरी शरण में आते हैं, वे सभी परमधाम को प्राप्त करते हैं. (१८.६६ भी देखें.) (९.३२)

किं पुनर् ब्राह्मणाः पुण्या, भक्ता राजर्षयस् तथा ।

अनित्यम् असुखं लोकम्, इमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

फिर पुण्यशील ब्राह्मणों और राजर्षि भक्तजनों का तो कहना ही क्या ? इसलिए यह क्षणभंगुर और सुखरहित मनुष्य-शरीर पाकर तुम निरन्तर मेरा ही भजन करो. (९.३३)

मन्मना भव मद्रक्तो, मद्याजी मां नमस्कुरु ।

माम् एवैष्यसि युक्तवैवम्, आत्मानं मत्परायणः ॥३४॥

9.34** मुझमें मन लगाओ, मेरे भक्त बनो, मेरी पूजा करो, मुझे प्रणाम करो. इस प्रकार मुझे अपना परम लक्ष्य मानकर अपने-आपको मुझसे युक्त करके तुम मुझे ही प्राप्त होगे. (९.३४)

इस प्रकार राजविद्याराजगुह्ययोग नामक नवां अध्याय पूर्ण हुआ.

अथ दशमोऽध्यायः

विभूतियोगः

१०. विभूतियोग

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो, शृणु मे परमं वचः ।

यत् तेऽहं प्रीयमाणाय, वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥

श्रीभगवान् बोले— हे अर्जुन, मेरे परम वचन को तुम फिर सुनो, जिसे मैं तुम-जैसे अतिशय प्रेम रखनेवाले के हित के लिए कहूंगा. (१०.०१)

परमात्मा सब वस्तुओं का मूल है

न मे विदुः सुरगणाः, प्रभवं न महर्षयः ।

अहम् आदिर् हि देवानां, महर्षीणां च सर्वशः ॥२॥

मेरी उत्पत्ति को देवता, महर्षि आदि कोई भी नहीं जानते हैं, क्योंकि मैं सभी देवताओं और महर्षियों का भी आदिकारण हूँ. (१०.०२)

यो माम् अजम् अनादिं च, वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।

असंमूढः स मर्त्येषु, सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥

जो मुझे अजन्मा, अनादि और समस्त लोकों के महान ईश्वर के रूप में जानता है, वह मनुष्यों में ज्ञानी है और सब पापों से मुक्त हो जाता है. (१०.०३)

बुद्धिर् ज्ञानम् असंमोहः, क्षमा सत्यं दमः शमः ।

सुखं दुःखं भवोऽभावो, भयं चाभयम् एव च ॥४॥

अहिंसा समता तुष्टिस्, तपो दानं यशोऽयशः ।

भवन्ति भावा भूतानां, मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥

बुद्धि, ज्ञान, भ्रम का अभाव, क्षमा, सत्य, इन्द्रिय-संयम, मन का संयम, सुख, दुःख, उत्पत्ति, प्रलय, भय, अभय, अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, यश, अपयश आदि प्राणियों के अनेक प्रकार के भाव मुझसे ही प्रकट होते हैं. (१०.०४-०५)

महर्षयः सप्त पूर्वे, चत्वारो मनवस् तथा ।

मद्रावा मानसा जाता, येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥

सात महर्षि, उनसे पहले चार सनकादि तथा चौदह मनु— ये सब मेरे संकल्प से उत्पन्न हुए हैं, जिनकी संसार में ये सारी प्रजा हैं. (१०.०६)

एतां विभूतिं योगं च, मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।

सोऽविकम्पेन योगेन, युज्यते नात्र संशयः ॥७॥

जो मनुष्य मेरी इस विभूति और योगमाया को तत्त्व से जानता है, वह अविचल भक्तियोग से युक्त हो जाता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है. (१०.०७)

अहं सर्वस्य प्रभवो, मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।

इति मत्वा भजन्ते मां, बुधा भावसमन्विताः ॥८॥

10.08** मैं ही सबकी उत्पत्ति का कारण हूँ और मुझसे ही जगत् का विकास होता है, ऐसा जानकर बुद्धिमान् भक्तजन श्रद्धापूर्वक मुझ परमेश्वर को ही निरन्तर भजते हैं.

(१०.०८)

मच्चिन्ता मद्गतप्राणा, बोधयन्तः परस्परम् ।

कथयन्तश्च मां नित्यं, तुष्यन्ति च स्मन्ति च ॥९॥

मुझमें ही चिन्ता को स्थिर रखनेवाले और मेरी शरण में आनेवाले भक्तजन आपस में मेरे गुण, प्रभाव आदि का कथन करते हुए निरन्तर संतुष्ट रहकर रमते हैं. (१०.०९)

प्रभु भक्तों को ज्ञान देता है

तेषां सततयुक्तानां, भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।

वदामि बुद्धियोगं ते, येन माम् उपयान्ति ते ॥१०॥

10.10*** निरन्तर मेरे ध्यान में लगे प्रेमपूर्वक मेरा भजन करनेवाले भक्तों को मैं ब्रह्मज्ञान और विवेक देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त करते हैं. (१०.१०)

तेषाम् एवानुकम्पार्थम्, अहम् अज्ञानजं तमः ।

नाशयाम्य् आत्मभावस्थो, ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

उनपर कृपा करके उनके अन्तःकरण में रहनेवाला, मैं, उनके अज्ञानजनित अन्धकार को तत्त्वज्ञानरूपी दीपक द्वारा नष्ट कर देता हूँ. (१०.११)

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम, पवित्रं परमं भवान् ।

पुरुषं शाश्वतं दिव्यम्, आदिदेवम् अजं विभुम् ॥१२॥

आहूस् त्वाम् ऋषयः सर्वे, देवर्षिर् नारदस् तथा ।

असितो देवलो व्यासः, स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

अर्जुन बोले— आप परमब्रह्म, परमधाम और परमपवित्र हैं; आप शाश्वत दिव्य पुरुष आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी हैं; ऐसा देवर्षि नारद, असित, देवल, व्यास आदि समस्त ऋषिजन तथा स्वयं आप भी मुझसे कहते हैं. (१०.१२-१३)

ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप कोई नहीं जान सकता

सर्वम् एतद् ऋतं मन्ये, यन् मां वदसि केशव ।

न हि ते भगवन् व्यक्तिं, विदुर् देवा न दानवाः ॥१४॥

हे केशव, मुझसे आप जो कुछ कह रहे हैं उस सबको मैं सत्य मानता हूँ. हे भगवन्, आपके वास्तविक स्वरूप को न देवता जानते हैं और न दानव. (४.०६ भी देखें.) (१०.१४)

स्वयम् एवात्मनात्मानं, वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।

भूतभावन भूतेश, देवदेव जगत्पते ॥१५॥

हे प्राणियों को उत्पन्न करनेवाले, हे भूतेश, हे देवों के देव, जगत् के स्वामी, पुरुषोत्तम, केवल आप स्वयं ही अपनेआप को जानते हैं.

वक्तुम् अर्हस्य् अशेषेण, दिव्या ह्य् आत्मविभूतयः ।

याभिर् विभूतिभिर् लोकान्, इमांस् त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥

अतः अपनी उन दिव्य विभूतियों को जिनसे आप इन सम्पूर्ण लोकों में व्याप्त होकर स्थित रहते हैं पूर्णरूपसे वर्णन करने में केवल आप ही समर्थ हैं. (१०.१६)

कथं विद्याम् अहं योगिन्, त्वां सदा परिचिन्तयन् ।

केषु केषु च भावेषु, चिन्त्योऽसि भगवन् मया ॥१७॥

हे योगेश्वर, मैं आपको निरन्तर चिन्तन करता हुआ कैसे जानूँ और हे भगवन्, किन-किन भावों द्वारा मैं आपका चिन्तन करूँ ? (१०.१७)

विस्तरेणात्मनो योगं, विभूतिं च जनार्दन ।

भूयः कथय तृप्तिर् हि, शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

हे जनार्दन, आप अपनी योगशक्ति एवं विभूतियों को विस्तारपूर्वक फिर से कहिए, क्योंकि आपके अमृतमय वचनों को सुनते हुए मुझे तृप्ति नहीं हो रही है. (१०.१८)

सम्पूर्ण सृष्टि परब्रह्म का विस्तार है

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि, दिव्या ह्य् आत्मविभूतयः ।

प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ, नास्त्य् अन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥

श्रीभगवान् बोले— हे कुरुश्रेष्ठ, अब मैं अपनी प्रमुख दिव्य विभूतियों को तेरे लिए संक्षेप में कहूँगा, क्योंकि मेरे विस्तार का तो अन्त ही नहीं है. (१०.१९)

अहम् आत्मा गुडाकेश, सर्वभूताशयस्थितः ।

अहम् आदिश्च मध्यं च, भूतानाम् अन्त एव च ॥२०॥

हे अर्जुन, मैं समस्त प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित आत्मा हूँ तथा सम्पूर्ण भूतों का आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ. (१०.२०)

आदित्यानाम् अहं विष्णुर्, ज्योतिषां रविर् अंशुमान् ।

मरीचिर् मरुताम् अस्मि, नक्षत्राणाम् अहं शशी ॥२१॥

मैं अदिति के (बारह) पुत्रों में विष्णु और ज्योतियों में प्रकाशमान् सूर्य हूँ, वायु-देवताओं में मरीचि और नक्षत्रों में चन्द्रमा हूँ. (१०.२१)

वेदानां सामवेदोऽस्मि, देवानाम् अस्मि वासवः ।

इन्द्रियाणां मनश्चास्मि, भूतानाम् अस्मि चेतना ॥२२॥

मैं वेदों में सामवेद हूँ, देवों में इन्द्र हूँ, इन्द्रियों में मन हूँ और प्राणियों की चेतना हूँ. (१०.२२)

रुद्राणां शंकरश् चास्मि, वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।

वसूनां पावकश् चास्मि, मेरुः शिखरिणाम् अहम् ॥२३॥

मैं रुद्रों में शंकर हूँ और यक्षों तथा राक्षसों में धनपति कुबेर हूँ, वसुओं में अग्नि और पर्वतों में सुमेरु पर्वत हूँ. (१०.२३)

पुरोधसां च मुख्यं मां, विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।

सेनानीनाम् अहं स्कन्दः, सरसाम् अस्मि सागरः ॥२४॥

हे पार्थ, मुझे पुरोहितों में उनका मुखिया बृहस्पति जानो. मैं सेनापतियों में स्कन्द और जलाशयों में समुद्र हूँ. (१०.२४)

महर्षीणां भृगुर् अहं, गिराम् अस्म्य् एकम् अक्षरम् ।

यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि, स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥

मैं महर्षियों में भृगु और शब्दों में ओंकार हूँ. मैं यज्ञों में जपयज्ञ और स्थिर रहनेवालों में हिमालय पर्वत हूँ. (१०.२५)

दैवी विभूतियों का संक्षिप्त वर्णन

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां, देवर्षीणां च नारदः ।

गन्धर्वाणां चित्ररथः, सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥

मैं समस्त वृक्षों में पीपल का वृक्ष, देवर्षियों में नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ और सिद्धों में कपिल मुनि हूँ. (१०.२६)

उच्चैःश्रवसम् अश्वानां, विद्धि माम् अमृतोद्भवम् ।

ऐरावतं गजेन्द्राणां, नराणां च नराधिपम् ॥२७॥

आयुधानाम् अहं वज्रं, धेनूनाम् अस्मि कामधुकम् ।

प्रजनश् चास्मि कन्दर्पः, सर्पाणाम् अस्मि वासुकिः ॥२८॥

मैं अश्वों में अमृत के साथ समुद्र से प्रकट उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा, हाथियों में ऐरावत और मनुष्यों में राजा, शस्त्रों में वज्र, गायों में कामधेनु, संतान की उत्पत्ति के लिए कामदेव और सर्पों में वासुकि हूँ. (१०.२७-२८)

अनन्तश् चास्मि नागानां, वरुणो यादसाम् अहम् ।

पितृणाम् अर्यमा चास्मि, यमः संयमताम् अहम् ॥२९॥

प्रह्लादश् चास्मि दैत्यानां, कालः कलयताम् अहम् ।

मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं, वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥

मैं नागों में शेषनाग, जलदेवताओं में वरुण, पितरों में अर्यमा और शासकों में यमराज; दिति के वंशजों में प्रह्लाद, गणना करनेवालों में समय, पशुओं में सिंह और पक्षियों में गरुड़ हूँ. (१०.२९-३०)

पवनः पवताम् अस्मि, रामः शस्त्रभृताम् अहम् ।

झषाणां मकरश् चास्मि, स्रोतसाम् अस्मि जाहनवी ॥३१॥

मैं पवित्र करनेवालों में वायु हूँ और शस्त्रधारियों में राम हूँ, जलचरों में मगर और नदियों में पवित्र गंगा नदी हूँ. (१०.३१)

सर्गाणाम् आदिर् अन्तश्च, मध्यं चैवाहम् अर्जुन ।

अध्यात्मविद्या विद्यानां, वादः प्रवदताम् अहम् ॥३२॥

हे अर्जुन, सारी सृष्टि का आदि, मध्य और अन्त भी मुझसे ही होता है. मैं विद्याओं में तारतम्य विद्या और विवाद करनेवालों का तर्क हूँ. (१०.३२)

अक्षराणाम् अकारोऽस्मि, द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।

अहम् एवाक्षयः कालो, धाताहं विश्वतोमुखः ॥३३॥

मैं अक्षरों में अकार और समासों में द्वन्द्व-समास हूँ. अक्षयकाल अर्थात् अकाल पुरुष तथा विराट्स्वरूप से सबका पालन-पोषण करनेवाला भी मैं ही हूँ. (१०.३३)

मृत्युः सर्वहरश्चाहम्, उद्भवश्च भविष्यताम् ।

कीर्तिः श्रीर् वाक् च नारीणां, स्मृतिर् मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥

मैं सबका नाश करनेवाली मृत्यु और भविष्य में होनेवालों की उत्पत्ति का कारण हूँ. संसार की सात श्रेष्ठ देवियों, जो कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा की अधिष्ठात्रियां हैं, वे भी मैं ही हूँ. (१०.३४)

बृहत्साम तथा साम्नां, गायत्री छन्दसाम् अहम् ।

मासानां मार्गशीर्षोऽहम्, ऋतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥

मैं सामवेद के गाए जानेवाले मंत्रों में बृहत्साम, वैदिक छन्दों में गायत्री छन्द, महीनों में मार्गशीर्ष और ऋतुओं में वसन्त ऋतु हूँ. (१०.३५)

द्यूतं छलयताम् अस्मि, तेजस् तेजस्विनाम् अहम् ।

जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि, सत्त्वं सत्त्ववताम् अहम् ॥३६॥

मैं छलियों में जुआ, तेजस्वियों का तेज, तथा विजय, निश्चय और सात्त्विक मनुष्यों का सात्त्विक भाव हूँ. (१०.३६)

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि, पाण्डवानां धनंजयः ।

मुनीनाम् अप्य् अहं व्यासः, कवीनाम् उशाना कविः ॥३७॥

मैं वृष्णिवंशियों में कृष्ण, पाण्डवों में अर्जुन, मुनियों में व्यास और कवियों में शुक्राचार्य हूँ. (१०.३७)

दण्डो दमयताम् अस्मि, नीतिर् अस्मि जिगीषताम् ।

मौनं चैवास्मि गुह्यानां, ज्ञानं ज्ञानवताम् अहम् ॥३८॥

मैं दमन करनेवालों में दण्डनीति और विजय चाहनेवालों में नीति हूँ. मैं गोपनीय भावों में मौन और ज्ञानियों का तत्त्वज्ञान हूँ. (१०.३८)

यच् चापि सर्वभूतानां, बीजं तद् अहम् अर्जुन ।

न तद् अस्ति विना यत् स्यान् , मया भूतं चराचरम् ॥३९॥

हे अर्जुन, समस्त प्राणियों की उत्पत्ति का बीज मैं ही हूँ, क्योंकि चर और अचर किसी का अस्तित्व मेरे बिना नहीं है (अर्थात् सब कुछ मेरा ही स्वरूप है). (७.१०, ९.१८ भी देखें.)

(१०.३९)

सृष्टि परब्रह्म का लघुतम अंश मात्र है

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां, विभूतीनां परंतप ।

एष तूदेशतः प्रोक्तो, विभूतेर् विस्तरो मया ॥४०॥

हे अर्जुन, मेरी दिव्य विभूतियों का तो अन्त ही नहीं है. मैंने तुम्हें अपनी विभूतियों के विस्तार का वर्णन संक्षेप में किया है. (१०.४०)

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं, श्रीमद् ऊर्जितम् एव वा ।

तत् तद् एवावगच्छ त्वं, मम तेजोऽशसंभवम् ॥४१॥

10.41 जो भी विभूतियुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उसे तुम मेरे तेज के एक अंश से ही उत्पन्न समझो. (१०.४१)**

अथवा बहुनैतेन, किं ज्ञातेन तवार्जुन ।

विष्टभ्याहम् इदं कृत्स्नम् , एकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

हे अर्जुन, तुम्हें बहुत जानने की क्या आवश्यकता है ? मैं अपने तेज अर्थात् योगमाया के एक अंशमात्र से ही सम्पूर्ण जगत् को धारण करके स्थित रहता हूँ. (छा.उ. ३.१२.०६ भी देखें.) (१०.४२)

इस प्रकार विभूतियोग नामक दसवां अध्याय पूर्ण हुआ.

अथ एकादशोऽध्यायः

विराटरूपदर्शनयोगः

११. विराटरूपदर्शनयोग

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं, गुह्यम् अध्यात्मसंज्ञितम् ।

यत् त्वयोक्तं वचस् तेन, मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥

अर्जुन बोले— आपने मुझपर कृपा करके जिस परम गोपनीय अध्यात्मतत्त्व को कहा, उससे मेरा भ्रम नष्ट हो गया है. (११.०१)

भवाप्ययौ हि भूतानां, श्रुतौ विस्तरशो मया ।

त्वत्तः कमलपत्राक्ष, माहात्म्यम् अपि चाव्ययम् ॥२॥

हे कमलनयन कृष्ण, मैंने आपसे प्राणियों की उत्पत्ति और प्रलय तथा आपके अविनाशी माहात्म्य को विस्तारपूर्वक सुना. (११.०२)

प्रभुदर्शन भक्त का परम ध्येय

एवम् एतद् यथात्थ त्वम् , आत्मानं परमेश्वर ।

द्रष्टुम् इच्छामि ते रूपम् , ऐश्वरं पुरुषोत्तम ॥३॥

हे परमेश्वर, आप अपने को जैसा कहते हैं, वह ठीक है; परन्तु हे पुरुषोत्तम, मैं आपके ईश्वरीय रूप को अपनी आंखों से देखना चाहता हूँ. (११.०३)

मन्यसे यदि तच् छक्यं, मया द्रष्टुम् इति प्रभो ।

योगेश्वर ततो मे त्वं, दर्शयात्मानम् अव्ययम् ॥४॥

हे प्रभो, यदि आप समझें कि मेरे द्वारा आपका विराटरूप देखा जाना संभव है; तो, हे योगेश्वर, आप अपने दिव्य विराटरूप का दर्शन दें. (११.०४)

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि, शतशोऽथ सहस्रशः ।

नानाविधानि दिव्यानि, नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

श्रीभगवान् बोले— हे पार्थ, अब तुम मेरे अनेक तरह के और अनेक रंग तथा आकृतिवाले सैकड़ों-हजारों दिव्यरूपों को देखो. (११.०५)

पश्यादित्यान् वसून् रुद्रान् , अश्विनौ मरुतस् तथा ।

बहून्य् अदृष्टपूर्वाणि, पश्याश्चर्याणि भारत ॥६॥

हे भारत, मुझमें आदित्यों, वसुओं, रुद्रों तथा अश्विनीकुमारों और मरुद्गणों को देखो तथा और भी बहुत-से पहले न देखे हुए आश्चर्यजनक रूपों को भी देखो. (११.०६)

इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं, पश्याद्य सचराचरम् ।

मम देहे गुडाकेश, यच् चान्यद् द्रष्टुम् इच्छसि ॥७॥

हे अर्जुन, अब मेरे शरीर में एक ही जगह पर स्थित हुए चर और अचर सहित सारे जगत् को तथा और जो कुछ देखना चाहते हो, उसे भी देख लो. (११.०७)

न तु मां शक्यसे द्रष्टुम् , अनेनैव स्वचक्षुषा ।

दिव्यं ददामि ते चक्षुः, पश्य मे योगम् ऐश्वरम् ॥८॥

परन्तु तुम अपनी इन आंखों से मुझे नहीं देख सकते हो, इसलिए मेरी योगशक्ति को देखने के लिए मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि प्रदान करता हूँ (११.०८)

श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को विराट् विश्वरूप का दर्शन कराना

संजय उवाच

एवम् उक्त्वा ततो राजन् , महायोगेश्वरो हरिः ।

दर्शयामास पार्थाय, परमं रूपम् ऐश्वरम् ॥९॥

संजय बोले— हे राजन्, महायोगेश्वर हरि ने ऐसा कहकर अर्जुन को अपने ऐश्वर्ययुक्त परम दिव्यरूप का दर्शन कराया. (११.०९)

अनेकवक्त्रनयनम् , अनेकाद्भुतदर्शनम् ।

अनेकदिव्याभरणं, दिव्यानेकोघतायुधम् ॥१०॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं, दिव्यगन्धानुलेपनम् ।

सर्वाश्चर्यमयं देवम् , अनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण के अनेक मुख और नेत्रोंवाले, अनेक अद्भुत दृश्यवाले, अनेक दिव्य आभूषणों से युक्त, बहुत-सारे दिव्य शस्त्रों को हाथों में लिए हुए, दिव्य माला और वस्त्रों को धारण किए हुए, दिव्य गन्ध का लेपन किए हुए, समस्त प्रकार के आश्चर्यों से युक्त, अनन्त विराट् स्वरूप का दर्शन किया. (११.१०-११)

दिवि सूर्यसहस्रस्य, भवेद् युगपद् उत्थिता ।

यदि भाः सदृशी सा स्याद् , भासस् तस्य महात्मनः ॥१२॥

आकाश में हजारों सूर्यों के एकसाथ उदय होने से उत्पन्न प्रकाश भी उस विश्वरूप परमात्मा के प्रकाश के जैसा शायद ही हो. (११.१२)

तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नं, प्रविभक्तम् अनेकधा ।

अपश्यद् देवदेवस्य, शरीरे पाण्डवस् तदा ॥१३॥

उस समय पाण्डुपुत्र अर्जुन ने देवों के देव श्रीकृष्ण भगवान् के दिव्य शरीर में अनेक प्रकार के विभागों में विभक्त परन्तु एक ही जगह एकत्रित सम्पूर्ण जगत् को देखा. (१३.१६, १८.२० भी देखें.) (११.१३)

प्रभुदर्शन के सब योग्य नहीं, न सब दीक्षित

ततः स विस्मयाविष्टो, हृष्टरोमा धनंजयः ।

प्रणम्य शिरसा देवं, कृताञ्जलिर् अभाषत ॥१४॥

(भगवान् के विराट्स्वरूप को देखकर) अर्जुन बहुत चकित हुए और आश्चर्य के कारण उनका शरीर पुलकित हो गया. अर्जुन ने हाथ जोड़कर विराट्स्वरूप देव को (श्रद्धा और भक्ति सहित) सिर झुकाकर प्रणाम करके कहा. (११.१४)

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस् तव देव देहे

सर्वांस् तथा भूतविशेषसंघान् ।

ब्रह्माणम् ईशं कमलासनस्थम्

ऋषींश्च सर्वान् उरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥

अर्जुन बोले— हे देव, मैं आपके शरीर में समस्त देवताओं को, प्राणियों के अनेक समुदायों को, कमल पर बैठे हुए ब्रह्माजी, महादेवजी, समस्त ऋषिगण और दिव्य सर्पों को देख रहा हूँ. (११.१५)

अनेकबाह्दरवक्त्रनेत्रं

पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।

नान्तं न मध्यं न पुनस् तवादिं

पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूपम् ॥१६॥

हे विश्वेश्वर, आपको मैं अनेक हाथों, पेटों, मुखों और नेत्रों से युक्त तथा सब ओर से अनन्त रूपोंवाला देखता हूँ. हे विश्वरूप, मैं आपके न अन्त को देखता हूँ, न मध्य को और न आदि को ही. (११.१६)

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च

तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।

पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्

दीप्तानलार्कद्युतिम् अप्रमेयम् ॥१७॥

मैं आपके मुकुट, गदा और चक्र धारण किए सब ओर से प्रकाशमान् तेज के पुंज-जैसा; प्रज्वलित अग्नि और सूर्य के समान ज्योतिवाले तथा नेत्रों द्वारा देखने में अत्यन्त कठिन और अपरिमित रूप को देख रहा हूँ. (११.१७)

त्वम् अक्षरं परमं वेदितव्यं

त्वम् अस्य विश्वस्य परं निधानम् ।

त्वम् अव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता

सनातनस् त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

आप ही जानने योग्य परब्रह्म परमात्मा हैं, आप ही इस विश्व के परम आश्रय हैं, आप ही सनातन धर्म के रक्षक हैं, आप ही अविनाशी सनातन पुरुष हैं, ऐसा मेरा मत है. (११.१८)

अनादिमध्यान्तम् अनन्तवीर्यम्

अनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।

पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं

स्वतेजसा विश्वम् इदं तपन्तम् ॥१९॥

मैं आपको आदि, मध्य और अन्त से रहित तथा अनन्त प्रभावशाली और अनन्त भुजाओंवाले तथा चन्द्रमा और सूर्य की तरह नेत्रोंवाले और प्रज्वलित अग्निरूपी मुखोंवाले तथा अपने तेज से विश्व को तपाते हुए देख रहा हूँ. (११.१९)

द्यावापृथिव्योर् इदम् अन्तरं हि

व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।

दृष्ट्वाद्भुतं रूपम् उग्रं तवेदं

लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

हे महात्मन्, स्वर्ग और पृथ्वी के बीच का यह सम्पूर्ण आकाश तथा समस्त दिशाएं केवल आपसे ही व्याप्त हैं। आपके इस अलौकिक और भयंकर रूप को देखकर तीनों लोक भयभीत हो रहे हैं। (११.२०)

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद् भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्य् उक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

समस्त देवताओं के समूह आपमें प्रवेश कर रहे हैं; और कई एक भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए आपके नाम और गुणों का कीर्तन कर रहे हैं। महर्षियों और सिद्धों के समुदाय "कल्याण हो, कल्याण हो" कहकर उत्तम स्तोत्रों द्वारा आपकी स्तुति कर रहे हैं। (११.२१)

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश् चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश् चैव सर्वे ॥२२॥

रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, मरुत्, पितृ, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धगण— ये सब चकित होकर आपको देख रहे हैं। (११.२२)

रूपं महत् ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहुरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास् तथाऽहम् ॥२३॥

हे महाबाहो, आपके बहुत मुखों तथा नेत्रोंवाले, बहुत भुजाओं, जंघाओं तथा पैरोंवाले, बहुत पेटों तथा बहुत-सी भयंकर दाढ़ोंवाले महान रूप को देखकर सब प्राणी व्याकुल हो रहे हैं तथा मैं भी व्याकुल हो रहा हूँ। (११.२३)

विराट् विश्वरूप दर्शन से अर्जुन को भय

नभःस्पृशं दीप्तम् अनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥

हे विष्णु, आकाश को छूते हुए देदीप्यमान्, अनेक रंगोंवाले, फैले हुए मुख और प्रकाशमान विशाल नेत्रों से युक्त आपको देखकर मैं भयभीत हो रहा हूँ तथा धीरज और शान्ति नहीं पा रहा हूँ। (११.२४)

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

आपके विकराल दाढ़ोंवाले, प्रलय की अग्नि के समान प्रज्वलित मुखों को देखकर मुझे न तो दिशाओं का ज्ञान हो रहा है और न शान्ति ही मिल रही है। इसलिए हे देवेश, हे जगत् के पालन कर्ता, आप प्रसन्न हों। (११.२५)

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस् तथासौ
सहास्मदीयैर् अपि योधमुख्यैः ॥२६॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद् विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैर् उत्तमाङ्गैः ॥२७॥

राजाओं के समुदाय, भीष्म, द्रोण, कर्ण और हमारे पक्ष के प्रधान योद्धागण-सहित धृतराष्ट्र के सभी पुत्र बड़ी तेजी से आपके विकराल दाढ़ोंवाले भयानक मुखों में प्रवेश कर रहे हैं। उनमें से कुछ तो चूर्णित शिरों सहित आपके दांतों के बीच में फंसे हुए दीख रहे हैं। (११.२६-२७)

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रम् एवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्य् अभिविज्वलन्ति ॥२८॥

जैसे नदियों के बहुत सारे जल के प्रवाह स्वाभाविक रूप से समुद्र की ओर जाते हैं, वैसे ही संसार के शूरवीर भी आपके प्रज्वलित मुखों में प्रवेश कर रहे हैं। (११.२८)

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्
तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥

जैसे पतंगे अपने नाश के लिए प्रज्वलित अग्नि में बड़े वेग से दौड़ते हुए प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये सब लोग भी अपने नाश के लिए आपके मुखों में बड़े वेग से दौड़ते हुए प्रवेश कर रहे हैं। (११.२९)

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्तात्

लोकान् समग्रान् वदनैर् ज्वलद्भिः ।
तेजोभिर् आपूर्य जगत् समग्रं
भासस् तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

आप सब लोकों को प्रज्वलित मुखों द्वारा ग्रास करते हुए सब ओर से चाट रहे हैं; और हे विष्णु, आपका उग्र प्रकाश अपने तेजसे सम्पूर्ण जगत् को परिपूर्ण करके तपा रहा है। (११.३०)

आख्याहि मे को भवान् उग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुम् इच्छामि भवन्तम् आद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

(कृपया) मुझे यह बताएं कि उग्ररूपवाले आप कौन हैं ? हे देवों में श्रेष्ठ, आपको मेरा नमस्कार, आप मुझसे प्रसन्न हों। हे आदि पुरुष, मैं आपको तत्त्व से जानना चाहता हूँ, क्योंकि मैं आपका प्रयोजन नहीं समझ पा रहा हूँ। (११.३१)

हम सब देवी निमित्त मात्र

श्रीभगवानुवाच
कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो
लोकान् समार्हतुम् इह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

श्रीभगवान् बोले— मैं सम्पूर्ण लोकों का नाश करनेवाला महाकाल हूँ और इस समय इन सब लोगों का संहार करने के लिए यहां आया हूँ। तुम्हारे प्रतिपक्ष में जो योद्धा लोग खड़े हैं, वे सब तुम्हारे युद्ध किए बिना भी जिन्दा नहीं रहेंगे। (११.३२)

तस्मात् त्वम् उत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वम् एव

निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन ॥३३॥

11.3***ये सब योद्धा पहले से ही मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं। हे अर्जुन, तुम तो केवल निमित्त ही हो। (११.३३)

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यान् अपि योधवीरान् ।
मया हतांस् त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा और भी बहुत-सारे मेरे द्वारा मारे हुए वीर योद्धाओं को तुम मारो। भय मत करो, निस्सन्देह तुम युद्ध में शत्रुओं को जीतोगे। इसलिए युद्ध करो। (११.३४)

अर्जुन द्वारा विश्वरूप की वन्दना

संजय उवाच
एतच् छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर् वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

संजय बोले— भगवान् कृष्ण के इस वचन को सुनकर मुकुटधारी और अत्यन्त भयभीत अर्जुन ने हाथ जोड़कर कांपते हुए नमस्कार करके गद्गद वाणी से श्रीकृष्ण से कहा। (११.३५)

अर्जुन उवाच
स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत् प्रहृष्यत्य् अनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥३६॥

अर्जुन बोले— हे अन्तर्यामी भगवन्, यह सब उचित ही है कि आपके (नाम, गुण, लीला आदि के) कीर्तन से जगत् हर्षित होकर अनुराग को प्राप्त हो रहा है। भयभीत राक्षस लोग सभी ओर भाग रहे हैं तथा सिद्धगण आपको नमस्कार कर रहे हैं। (११.३६)

कस्माच् च ते न नमेरन् महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्य् आदिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वम् अक्षरं सद् असत् तत्परं यत् ॥३७॥

हे महात्मा, वे आपको—जो ब्रह्माजी से भी बड़े और आदिकर्ता हैं— कैसे नमस्कार न करें ? क्योंकि हे अनन्त, हे देवेश, हे जगत् के पालनकर्ता; **11.37 जो सत्, असत् और इन दोनों से परे परब्रह्म है, वह आप ही हैं। (९.१९, १३.१२ भी देखें।) (११.३७)

त्वम् आदिदेवः पुरुषः पुराणस्
त्वम् अस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वम् अनन्तरूप ॥३८॥

आप ही आदिदेव और सनातन पुरुष हैं। आप ही जगत् के आधार, सबको जाननेवाले, जानने योग्य तथा परमधाम हैं। हे अनन्तरूप, यह सारा संसार आपसे ही व्याप्त है। (११.३८)

वायुर् यमोऽग्निर् वरुणः शशाङ्कः
 प्रजापतिस् त्वं प्रपितामहश्च ।
 नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
 पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

आप ही वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति ब्रह्मा और ब्रह्मा के पिता भी हैं। आपको हमारा सहस्र बार नमस्कार, नमस्कार और फिर बारम्बार नमस्कार है. (११.३९)

नमः पुरस्ताद् अथ पृष्ठतस् ते
 नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
 अनन्तवीर्यामितविक्रमस् त्वं
 सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

हे अनन्त सामर्थ्यवाले भगवन्, आपको आगेसे और पीछेसे भी नमस्कार. हे सर्वात्मन्, आपको सब ओर से नमस्कार. आप अनन्त साहसी और शक्तिशाली हैं. सबमें व्याप्त रहने के कारण सब कुछ तथा सब जगह आप ही हैं. (११.४०)

सखेति मत्वा प्रसभं यद् उक्तं
 हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
 अजानता महिमानं तवेदं
 मया प्रमादात् प्रणयेन वापि ॥४१॥

हे भगवन्, आपकी महिमा को न जानने के कारण, आपको सखा मानकर, प्रेम से अथवा लापरवाही से मैंने "हे कृष्ण, हे यादव, हे सखे," आदि कहा है. (११.४१)

यच् चावहासार्थम् असत्कृतोऽसि
 विहारशय्यासनभोजनेषु ।
 एकोऽथवाप्य् अच्युत तत्समक्षं
 तत् क्षामये त्वाम् अहम् अप्रमेयम् ॥४२॥

और, हे अच्युत, आप मेरे द्वारा हंसी में, खेलने, सोने, बैठने और भोजन के समय अकेले में अथवा दूसरों के सामने भी जो अपमानित किए गए हैं, उन सबके लिए, हे अपरिमित भगवन्, मैं आपसे क्षमा मांगता हूं. (११.४२)

पितासि लोकस्य चराचरस्य
 त्वम् अस्य पूज्यश्च गुरुर् गरीयान् ।
 न त्वत्समोऽस्त्य् अभ्यधिकः कुतोऽन्यो
 लोकत्रयेऽप्य् अप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

आप इस चराचर जगत् के पिता और सर्वश्रेष्ठ पूजनीय गुरु हैं. हे अतिशय प्रभाववाले, तीनों लोकों में आपके जैसा दूसरा कोई भी नहीं है, फिर आपसे बड़ा कौन है ? (११.४३)

तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायं
 प्रसादये त्वाम् अहम् ईशम् ईड्यम् ।
 पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
 प्रियः प्रियायार्हीसि देव सोढुम् ॥४४॥

इसलिए हे भगवन्, मैं आपके चरणों में साष्टांग प्रणाम करके आपको प्रसन्न करने के लिए प्रार्थना करता हूं. हे देव, जैसे पिता पुत्र के, मित्र अपने मित्र के और पति पत्नी के अपराध को क्षमा करता है, वैसे ही आप भी मेरे अपराधों को क्षमा कीजिए. (११.४४)

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
 भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
 तद् एव मे दर्शय देव रूपं
 प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

मैं आपके पहले कभी नहीं देखे जानेवाले इस रूप को देखकर हर्षित हो रहा हूं तथा भय से मेरा मन अत्यन्त व्याकुल भी हो रहा है. अतः हे देवेश, हे जगत् के आश्रय, आप प्रसन्न हों और मुझे अपना (चतुर्भुज) देवरूप दिखाइए. (११.४५)

प्रभु के साकार रूप का दर्शन सम्भव है

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तम्
 इच्छामि त्वां द्रष्टुम् अहं तथैव ।
 तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
 सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

मैं आपको मुकुट धारण किए हुए तथा गदा और चक्र हाथ में लिए हुए देखना चाहता हूं. इसलिए हे विराटरूप, हे सहस्रबाहो, आप अपने चतुर्भुजरूप में प्रकट हों. (११.४६)

श्रीभगवानुवाच
 मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
 रूपं परं दर्शितम् आत्मयोगात् ।
 तेजोमयं विश्वम् अनन्तम् आद्यं
 यन् मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

श्रीभगवान् बोले— हे अर्जुन, तुमसे प्रसन्न होकर मैंने अपनी योगमाया के बलसे अपना यह परम, तेजोमय, विराट्, अनन्त और मूलरूप तुम्हें दिखाया है, जिसे तुमसे पहले किसीने नहीं देखा है. (११.४७)

न वेदयज्ञाध्ययनैर् न दानैर्
 न च क्रियाभिर् न तपोभिर् उग्रैः ।
 एवंरूपः शक्य अहं नृलोके

द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

हे कुरुप्रवीर, तुम्हारे सिवा इस मनुष्यलोक में किसी दूसरे के द्वारा न वेदों के पढ़ने से, न यज्ञ से, न दान से, न उग्र तप से और न वैदिक क्रियाओं द्वारा ही मैं इस रूप में देखा जा सका हूँ. (११.४८)

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो

दृष्ट्वा रूपं घोरम् ईदृङ्ममेदम् ।

व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस् त्वं

तद् एव मे रूपम् इदं प्रपश्य ॥४९॥

मेरे इस विकराल रूप को देखकर तुम्हें व्याकुल और विमूढ़ नहीं होना चाहिए. निर्भय और प्रसन्नचित्त होकर अब तुम मेरे (शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण किए हुए) चतुर्भुजरूप को देखो. (११.४९)

संजय उवाच

इत्य् अर्जुनं वासुदेवस् तथोक्त्वा

स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।

आश्वासयामास च भीतम् एनं

भूत्वा पुनः सौम्यवपुर् महात्मा ॥५०॥

संजय बोले— भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से ऐसा कहकर उसे अपना चतुर्भुजरूप दिखाया और फिर सुहावना मनुष्यरूप धारणकर महात्मा कृष्ण ने भयभीत अर्जुन को आश्वासन दिया. (११.५०)

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं, तव सौम्यं जनार्दन ।

इदानीम् अस्मि संवृत्तः, सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

अर्जुन बोले— हे जनार्दन, आपके इस सुन्दर मनुष्यरूप को देखकर अब मैं शान्तचित्त होकर अपनी स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त हो गया हूँ. (११.५१)

अनन्यभक्ति द्वारा प्रभुदर्शन

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शम् इदं रूपं, दृष्ट्वानसि यन् मम ।

देवा अप्य् अस्य रूपस्य, नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥५२॥

श्रीभगवान् बोले— मेरे जिस चतुर्भुजरूप को तुमने देखा है, उसका दर्शन बड़ा ही दुर्लभ है. देवतागण भी सदा इस रूप के दर्शन की आकांक्षा करते रहते हैं. (११.५२)

नाहं वेदैर् न तपसा, न दानेन न चेज्यया ।

शक्य एवंविधो द्रष्टुं, दृष्ट्वानसि मां यथा ॥५३॥

उस चतुर्भुजरूप में जैसा तुमने देखा है मैं न वेदों के पढ़ने से, न तप से, न दान से और न यज्ञ करने से ही देखा जा सकता हूँ. (कठ.उ. २.२३ भी देखें.) (११.५३)

भक्त्या त्व् अनन्यया शक्य, अहम् एवंविधोऽर्जुन ।

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन, प्रवेष्टुं च परंतप ॥५४॥

परन्तु हे परन्तप अर्जुन, केवल अनन्यभक्ति (पराः अव्यभिचारिणी भक्ति, ज्ञानचक्षु) के द्वारा ही मैं उस चतुर्भुजरूप में देखा, तत्त्व से जाना तथा प्राप्त भी किया जा सकता हूँ. (११.५४) (१३.१० भी देखें)

मत्कर्मकृन् मत्परमो, मद्भक्तः सङ्गावर्जितः ।

निर्वैरः सर्वभूतेषु, यः स माम् एति पाण्डव ॥५५॥

11.55** हे अर्जुन, जो मनुष्य केवल मेरे ही लिए अपने सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मों को करता है, मुझ पर ही भरोसा रखता है, मेरा भक्त है तथा जो आसक्तिरहित और निर्वैर है, वही मुझे प्राप्त करता है. (८.२२ भी देखें.) (११.५५)

इस प्रकार विराटरूपदर्शनयोग नामक ग्यारहवां अध्याय पूर्ण हुआ.

अथ द्वादशोऽध्यायः

भक्तियोगः

१२. भक्तियोग

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये, भक्तास् त्वां पर्युपासते ।

ये चाप्य् अक्षरम् अव्यक्तं, तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

अर्जुन बोले— जो भक्त सतत युक्त होकर पूर्वोक्त प्रकार से (आपके इस कृष्णस्वरूप सगुण साकार रूप की) उपासना करते हैं और जो भक्त मन और वाणी से परे (अव्यक्त) अक्षर ब्रह्म को निराकार मानकर उसकी उपासना करते हैं, उन दोनों में कौन उत्तम योगी है. (१२.०१)

साकार की उपासना करें या निराकार ब्रह्म की?

श्रीभगवानुवाच

मय्य् आवेश्य मनो ये मां, नित्ययुक्ता उपासते ।

श्रद्धया परयोपेतास्, ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

श्रीभगवान् बोले— जो भक्तजन मुझमें मन को एकाग्र करके नित्ययुक्त होकर परम श्रद्धा और भक्ति से युक्त होकर मुझ परब्रह्म परमेश्वर के (कृष्णस्वरूप) सगुण रूप की उपासना करते हैं, वे मेरे मत से श्रेष्ठ हैं. (६.४७ भी देखें.) (१२.०२)

ये त्व् अक्षरम् अनिर्देश्यम् , अव्यक्तं पर्युपासते ।

सर्वत्रगम् अचिन्त्यं च, कूटस्थम् अचलं ध्रुवम् ॥३॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं, सर्वत्र समबुद्धयः ।

ते प्राप्नुवन्ति माम् एव, सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

परन्तु जो मनुष्य अक्षर, अनिर्वचनीय, अव्यक्त, सर्वगत, अचिन्त्य, अपरिवर्तनशील, अचल और सनातन ब्रह्म की उपासना इन्द्रियों को अच्छी तरह नियमित करके, सभी में समभाव होकर, भूतमात्र के हित में रत रहकर करते हैं, वे भी मुझे प्राप्त करते हैं. (१२.०३-०४)

साकार की उपासना के कारण

क्लेशोऽधिकतरस् तेषाम् , अव्यक्तासक्तचेतसाम् ।

अव्यक्ता हि गतिर् दुःखं, देहवद्भिर् अवाप्यते ॥५॥

परन्तु उन अव्यक्त में आसक्त हुए चित्तवाले मनुष्यों को (साधना में) क्लेश अधिक होता है, क्योंकि देहधारियों द्वारा अव्यक्त की गति कठिनाई-पूर्वक प्राप्त होती है. (१२.०५)

ये तु सर्वाणि कर्माणि, मयि संन्यस्य मत्पराः ।

अनन्येनैव योगेन, मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥

तेषाम् अहं समुद्धर्ता, मृत्युसंसारसागरात् ।

भवामि नचिरात् पार्थ, मय्य् आवेशितचेतसाम् ॥७॥

परन्तु हे अर्जुन, जो भक्त मुझको ही अपना परम लक्ष्य मानते हुए सभी कर्मों को मुझे अर्पण करके अनन्यभक्ति के द्वारा मेरे साकार रूप का ध्यान करते हैं, ऐसे भक्तों का जिनका चित्त मेरे सगुण स्वरूप में स्थिर रहता है, मैं शीघ्र ही मृत्युरूपी संसार-सागर से उद्धार कर देता हूँ. (१२.०६-०७)

ईश्वर-प्राप्ति के चार मार्ग

मय्येव मन आधत्स्व, मयि बुद्धिं निवेश्य ।

निवासिष्यसि मय्येव, अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

तुम मुझमें ही अपना मन लगाओ और बुद्धिसे मेरा ही चिन्तन करो, इसके उपरान्त निस्संदेह तुम मुझमें ही निवास करोगे. (१२.०८)

अथ चित्तं समाधातुं, न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।

अभ्यासयोगेन ततो, माम् इच्छाप्तुं धनंजय ॥९॥

हे धनंजय, यदि तुम अपने मन को मुझमें स्थिर करने में असमर्थ हो, तो तुम (पूजा, पाठ आदि के) अभ्यास के द्वारा मुझे प्राप्त करने की इच्छा से प्रयत्न करो. (१२.०९)

अभ्यासेऽप्य् असमर्थोऽसि, मत्कर्मपरमो भव ।

मदर्थम् अपि कर्माणि, कुर्वन् सिद्धिम् अवाप्स्यसि ॥१०॥

यदि तुम अभ्यास करने में असमर्थ हो, तो मेरे लिए अपने कर्तव्य कर्मों का पालन करो, कर्मों को मेरे लिए करते हुए तुम मेरी प्राप्तिरूपी सिद्धि पाओगे. (९.२७, १८.४६ भी देखें.) (१२.१०)

अथैतद् अप्य् अशक्तोऽसि, कर्तुं मद्योगम् आश्रितः ।

सर्वकर्मफलत्यागं, ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

यदि इसे भी करने में तुम असमर्थ हो, तो मुझपर आश्रित होकर, मन पर विजय प्राप्त कर, सब कर्मों के फल में आसक्ति का त्याग करो. (१२.११)

कर्मयोग का सरल और सर्वोत्तम मार्ग

श्रेयो हि ज्ञानम् अभ्यासाज् , ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते ।

ध्यानात् कर्मफलत्यागस् , त्यागाच् छान्तिर् अनन्तरम् ॥१२॥

12.12** मर्म जाने बिना अभ्यास करने से शास्त्रों का ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से परमात्मा के स्वरूप का ध्यान श्रेष्ठ है, और सब कर्मों के फल में आसक्ति का त्याग ध्यानसे भी श्रेष्ठ है, क्योंकि त्याग से तत्काल परम शान्ति की प्राप्ति होती है. (१२.१२)

भक्त के लक्षण

अद्वेष्टा सर्वभूतानां, मैत्रः करुण एव च ।

निर्ममो निरहंकारः, समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥

संतुष्टः सततं योगी, यतात्मा दृढनिश्चयः ।

मय्य् अर्पितमनोबुद्धिर् , यो मद्रक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

जो मनुष्य सभी प्राणियों से द्वेषरहित है, सबका प्रेमी है, दयालु है, ममता और अहंकार से रहित है, सुख और दुःख में सम, क्षमाशील और संतुष्ट है; जो अपने मन और इन्द्रियों को वश में करके मुझमें दृढनिश्चय होकर अपने मन और बुद्धि को मुझे अर्पण करके सदा मेरा ही ध्यान करता है, ऐसा भक्त मुझे प्रिय है. (१२.१३-१४)

यस्मान् नोद्विजते लोको, लोकान् नोद्विजते च यः ।

हर्षामर्षभयोद्वेगैर् , मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

जिससे कोई व्यक्ति उद्वेग प्राप्त नहीं करता तथा जो स्वयं भी किसीसे उद्विग्न नहीं होता; जो सुख, दुःख, भय और उद्वेग से मुक्त है, वह मुझे प्रिय है. (१२.१५)

अनपेक्षः शुचिर् दक्ष, उदासीनो गतव्यथः ।

सर्वारम्भपरित्यागी, यो मद्रक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

जो आकांक्षा-रहित, शुद्ध, कुशल, पक्षपात से रहित, सुखी और सभी कर्मों का अकर्ता है, वैसा भक्त मुझे प्रिय है. (१२.१६)

यो न हृष्यति न द्वेष्टि, न शोचति न काङ्क्षति ।

शुभाशुभपरित्यागी, भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥१७॥

जो न किसी से द्वेष करता है, न सुख में हर्षित होता है और न दुःख में शोक करता है; जो कामना-रहित है तथा शुभ और अशुभ दोनों कर्मों के फल का त्याग करनेवाला है, वैसा भक्तियुक्त मनुष्य मुझे प्रिय है. (१२.१७)

समः शत्रौ च मित्रे च, तथा मानापमानयोः ।

शीतोष्णसुखदुःखेषु, समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर् मौनी, संतुष्टो येन केनचित् ।

अनिकेतः स्थिरमतिर् , भक्तिमान् मे प्रियो नरः ॥१९॥

जो शत्रु और मित्र, मान और अपमान, सदी और गर्मी तथा सुख और दुःख में सम है; जो आसक्ति-रहित है, जिसके लिए निन्दा और स्तुति दोनों बराबर हैं, जो कम बोलता है, जो कुछ हो उसीमें संतुष्ट है, जिसे स्थान में आसक्ति नहीं है तथा जिसकी बुद्धि स्थिर है, ऐसा भक्त मुझे प्रिय है. (१२.१८-१९)

व्यक्ति निष्ठापूर्वक दैवी गुण पाने का यत्न करे

ये तु धर्म्यामृतम् इदं, यथोक्तं पर्युपासते ।

श्रद्धधाना मत्परमा, भक्तास् तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

जो श्रद्धावान् भक्त मुझे ही अपना परम लक्ष्य मानकर उपरोक्त धर्ममय अमृत का जीवन जीते हैं, वे तो मुझे बहुत ही प्रिय हैं. (१२.२०)

इस प्रकार भक्तियोग नामक बारहवां अध्याय पूर्ण हुआ.

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगः

१३. क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय, क्षेत्रम् इत्य् अभिधीयते ।

एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः, क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥१॥

श्रीभगवान् बोले— हे कुन्तीनन्दन अर्जुन, इस शरीर को क्षेत्र कहते हैं और जो इस क्षेत्र को जानता है, उसे ज्ञानी लोग क्षेत्रज्ञ कहते हैं. (१३.०१)

सृष्टि-सिद्धान्त

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्ध्य, सर्वक्षेत्रेषु भारत ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर् ज्ञानं, यत् तज् ज्ञानं मतं मम ॥२॥

हे भरतवंशी अर्जुन, मुझे तुम सभी क्षेत्रों का क्षेत्रज्ञ जानो. मेरे मत से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही तत्त्वज्ञान है. (१३.०२)

तत् क्षेत्रं यच् च यादृक् च, यद्विकारि यतश्च यत् ।

स च यो यत्प्रभावश्च, तत् समासेन मे शृणु ॥३॥

क्षेत्र क्या है, कैसा है, इसका स्रोत कहां है, इसकी विभूतियां क्या हैं; तथा क्षेत्रज्ञ क्या है, उसकी शक्तियां क्या हैं, वह सब संक्षेप में सुनो. (१३.०३)

ऋषिभिर् बहुधा गीतं, छन्दोभिर् विविधैः पृथक् ।

ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव, हेतुमद्भिर् विनिश्चितैः ॥४॥

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के विषय में ऋषियों द्वारा बहुत प्रकार से बताया गया है तथा नाना प्रकार के वेदमंत्रों और ब्रह्मसूत्र के युक्तियुक्त पदों द्वारा भी विस्तारपूर्वक कहा गया है. (१३.०४)

महाभूतान्य् अहंकारो, बुद्धिर् अव्यक्तम् एव च ।

इन्द्रियाणि दशैकं च, पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥५॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं, संघातश्चेतना धृतिः ।

एतत् क्षेत्रं समासेन, सविकारम् उदाहृतम् ॥६॥

अव्यक्त, अर्थात् आदि प्रकृति, महत्त्व, अहंकार तत्त्व, पांच महाभूत, दस इन्द्रियां, मन, पांचो ज्ञानेन्द्रिय के पांच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूल शरीर, चेतना तथा धैर्य—इस प्रकार विभूतियों के सहित क्षेत्र का वर्णन संक्षेप में किया गया है. (७.०४ भी देखें.) (१३.०५-०६)

निर्वाण-साधन के रूप में चतुर्विध आर्षसत्य

अमानित्वम् अदम्भित्वम् , अहिंसा क्षान्तिर् आर्जवम् ।

आचार्योपासनं शौचं, स्थैर्यम् आत्मविनिग्रहः ॥७॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम् , अनहंकार एव च ।

जन्ममृत्युजराव्याधि-दुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥

अपने में मान और दिखावे का न होना, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरु की सेवा, बाहर-भीतर की शुद्धि, स्थिरता, मन का वश में होना; इन्द्रियों के विषयों से वैराग्य, अहंकार का अभाव तथा जन्म, वृद्धावस्था, रोग और मृत्यु में दुःखरूप दोषों को बार-बार देखना; (१३.०७-०८)

असक्तिर् अनभिष्वङ्गः, पुत्रदारगृहादिषु ।

नित्यं च समचित्तत्वम् , इष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥

मयि चानन्ययोगेन, भक्तिर् अव्यभिचारिणी ।

विविक्तदेशसेवित्वम् , अरतिर् जनसंसदि ॥१०॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं, **तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्** ।

एतज् ज्ञानम् इति प्रोक्तम् , अज्ञानं यद् अतोऽन्यथा ॥११॥

आसक्तिरहित होना; पुत्र, स्त्री, घर आदि में ममता का न होना; प्रिय और अप्रिय की प्राप्ति में सम रहना, मुझमें अनन्ययोग के द्वारा अटल भक्ति का होना, एकान्त में रहना, संसारी मनुष्यों के समाज से अरुचि, अध्यात्मज्ञान की प्राप्ति में संलग्न रहना, और **तत्त्वज्ञान द्वारा**

सर्वत्र परमात्मा को ही देखना— यह सब ज्ञान (प्राप्ति के साधन) है और जो इसके विपरीत है, वह अज्ञान कहा गया है. (१३.०९-११)

दृष्टान्त कथा द्वारा ही प्रभु का वर्णन सम्भव

ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि, यज् ज्ञात्वाऽमृतम् अश्नुते ।

अनादिमत् परं ब्रह्म, न सत् तन् नासद् उच्यते ॥१२॥

मैं तुम्हें जानने योग्य वस्तु अर्थात् परमात्मा के बारे में अच्छी तरह कहूंगा, जिसे जानकर मनुष्य मुक्ति को प्राप्त करता है. **13.12**** वह अनादि परब्रह्म परमात्मा न सत् (अर्थात् अक्षर या अविनाशी) है, न असत् (अर्थात् क्षर या नाशवान्) है. (वह इन दोनों से परे, अक्षरातीत, है.) (९.१९, ११.३७, १५.१८ भी देखें.) (१३.१२)

सर्वतःपाणिपादं तत् , सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।

सर्वतःश्रुतिमत् लोके, सर्वम् आवृत्य तिष्ठति ॥१३॥

उसके हाथ और पैर सब जगह हैं; उसके नेत्र, सिर, मुख और कान भी सब जगह हैं; क्योंकि वह सर्वव्यापी है. (ऋ.वे. १०.८१.०३, श्वे.उ. ३.१६ भी देखें.) (१३.१३)

सर्वेन्द्रियगुणाभासं, सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।

असक्तं सर्वभृच् चैव, निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥

वह (प्राकृत) इन्द्रियों के बिना भी (सूक्ष्म इन्द्रियों द्वारा) सभी विषयों का अनुभव करता है. सम्पूर्ण संसार का पालन-पोषण करते हुए भी आसक्तिरहित है तथा प्रकृति के गुणों से रहित होते हुए भी (जीवरूप धारण कर) गुणों का भोक्ता है. (१३.१४)

बहिर् अन्तश्च भूतानाम् , अचरं चरम् एव च ।

सूक्ष्मत्वात् तद् अविज्ञेयं, दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥

सभी चर और अचर भूतों के बाहर और भीतर भी वही है. सूक्ष्म होने के कारण वह (मनुष्य की इन्द्रियों द्वारा देखा या) जाना नहीं जा सकता है तथा वह (सर्वव्यापी होने के कारण) अत्यन्त दूर भी है और समीप भी. (१३.१५)

अविभक्तं च भूतेषु, विभक्तम् इव च स्थितम् ।

भूतभर्तृ च तज् ज्ञेयं, ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥

वह एक होते हुए भी प्राणीरूप में अनेक दिखाई देता है. वह ज्ञान का विषय है तथा सभी भूतों को उत्पन्न करनेवाला, पालन-पोषण करनेवाला और संहारकर्ता भी वही है. (११.१३, १८.२० भी देखें.) (१३.१६)

ज्योतिषाम् अपि तज् ज्योतिस् , तमसः परम् उच्यते ।

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं, हृदि सर्वस्य विष्टितम् ॥१७॥

वह, सभी ज्योतियों का स्रोत, अन्धकार से परे है. वही ज्ञान है, ज्ञान का विषय है और वह तारतम्य विद्या (ज्ञान) द्वारा जाना जा सकता है. वह (ईश्वर-रूप से) सबके अन्तःकरण में रहता है. (गीता १५.०६, १५.१२ तथा मु.उ. ३.०१.०७, श्वे.उ. ३.०८ भी देखें.) (१३.१७)

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं, ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।

मद्रक्त एतद् विज्ञाय, मद्रावायोपपद्यते ॥१८॥

इस प्रकार (मेरे द्वारा) सृष्टि, तत्त्वज्ञान और जानने योग्य परमात्मा के विषय में संक्षेप से कहा गया. इसे तत्त्व से जानकर मेरा भक्त मेरे स्वरूप को प्राप्त करता है. (१३.१८)

पुरुष, प्रकृति, आत्मा, और परमात्मा का वर्णन

प्रकृतिं पुरुषं चैव, विद्ध्य अनादी उभाव् अपि ।

विकारांश्च गुणांश्चैव, विद्ध्य प्रकृतिसंभवान् ॥१९॥

कार्यकरणकर्तृत्वे, हेतुः प्रकृतिर् उच्यते ।

पुरुषः सुखदुःखानां, भोक्तृत्वे हेतुर् उच्यते ॥२०॥

प्रकृति और पुरुष, इन दोनों को तुम अनादि जानो. सभी विभूतियां और गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं. शरीर और इन्द्रियों की उत्पत्ति भी प्रकृति से होती है और सुख-दुःख का अनुभव पुरुष (अर्थात् चेतन शक्ति) के द्वारा होता है. (१३.१९-२०)

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि, भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।

कारणं गुणसङ्गोऽस्य, सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

13.21** प्रकृति के साथ मिलकर पुरुष प्रकृति के गुणों को भोगता है. प्रकृति के गुणों से संयोग के कारण ही पुरुष (जीव बनकर) अच्छी और बुरी योनियों में जन्म लेता है. (१३.२१)

उपद्रष्टानुमन्ता च, भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।

परमात्मेति चाप्य् उक्तो, देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥२२॥

यह परम पुरुष (अर्थात् आत्मा) ही (जीवात्मारूप से) इस शरीर में साक्षी, सम्मति देनेवाला, पालनकर्ता, भोक्ता, महेश्वर, परमात्मा आदि कहा जाता है. (१३.२२)

य एवं वेत्ति पुरुषं, प्रकृतिं च गुणैः सह ।

सर्वथा वर्तमानोऽपि, न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

इस प्रकार पुरुष को और गुणों के सहित प्रकृति को जो मनुष्य यथार्थरूप से जान लेता है, वह सभी कर्तव्यकर्म करता हुआ भी पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त करता है. (१३.२३)

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति, केचिद् आत्मानमात्मना ।

अन्ये सांख्येन योगेन, कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥

कोई साधक ध्यान के अभ्यास से, कोई सांख्ययोग के द्वारा तथा कोई कर्मयोग के द्वारा (शुद्ध किए हुए) मन और बुद्धि से अपने अन्तःकरण में परमात्मा का दर्शन करता है. (१३.२४)

विश्वास भी मोक्ष का मार्ग

अन्ये त्व एवम् अजानन्तः, श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।

तेऽपि चातितरन्त्य एव, मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥

परन्तु, दूसरे जो परमात्मा को इस प्रकार (ध्यानयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग आदि द्वारा) नहीं जानते, वे केवल शास्त्र और महापुरुषों के वचनों के अनुसार उपासना करते हैं। वे भी मृत्युरूपी संसार सागर को श्रद्धारूपी नौका द्वारा निस्संदेह पार कर जाते हैं। (१३.२५)

यावत् संजायते किञ्चित् , सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् , तद् विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥

हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन, चर और अचर जितने भी प्राणी पैदा होते हैं, उन सबको तुम प्रकृति और पुरुष (अर्थात् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ) के संयोग से ही उत्पन्न हुए जानो। (७.०६ भी देखें।) (१३.२६)

समं सर्वेषु भूतेषु, तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।

विनश्यत्स्व् अविनश्यन्तं, यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

13.27 जो मनुष्य अविनाशी परमेश्वर को ही समस्त नश्वर प्राणियों में समान भाव से स्थित देखता है, वही वास्तव में ईश्वर का दर्शन करता है। (१३.२७)**

समं पश्यन् हि सर्वत्र, समवस्थितम् ईश्वरम् ।

न हिनस्त्य् आत्मनात्मानं, ततो याति परां गतिम् ॥२८॥

क्योंकि सबमें स्थित एक ही परमेश्वर को देखनेवाला मनुष्य अपने-आप अपनी ही (अर्थात् किसी की भी) हिंसा नहीं करता है, इससे वह परमगति को प्राप्त होता है। (१३.२८)

प्रकृत्यैव च कर्माणि, क्रियमाणानि सर्वशः ।

यः पश्यति तथात्मानम् , अकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

जो मनुष्य सभी कर्मों को प्रकृति के गुणों द्वारा ही किए जाते हुए देखता है और अपनेआप को (तथा आत्मा को भी) अकर्ता मानता है, वास्तव में वही ज्ञानी है। (३.२७, ५.०९, १४.१९ भी देखें।) (१३.२९)

यदा भूतपृथग्भावम् , एकस्थम् अनुपश्यति ।

तत एव च विस्तारं, ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥

13.30 जिस क्षण साधक सभी प्राणियों को तथा उनके अलग-अलग विचारों को एकमात्र परब्रह्म परमात्मा से ही उत्पन्न समझ जाता है, उसी क्षण वह परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। (१३.३०)**

ब्रह्म के लक्षण

अनादित्वान् निर्गुणत्वात् , परमात्मायम् अव्ययः ।

शरीरस्थोऽपि कौन्तेय, न करोति न लिप्यते ॥३१॥

हे अर्जुन, अविनाशी परमात्मा अनादि और विकार-रहित होने के कारण शरीर में वास करता हुआ भी न कुछ करता है और न देह से लिप्त होता है। (१३.३१)

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्याद् , आकाशं नोपलिप्यते ।

सर्वत्रावस्थितो देहे, तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

जैसे सर्वव्यापी आकाश अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण किसी विकार से दूषित नहीं होता, वैसे ही (सर्वव्यापी) आत्मा सभी देह के अन्दर रहते हुए भी (देह के) विकारों से दूषित नहीं होता। (१३.३२)

यथा प्रकाशयत्य् एकः, कृत्स्नं लोकम् इमं रविः ।

क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं, प्रकाशयति भारत ॥३३॥

हे अर्जुन, जैसे एक ही सूर्य सारे जगत् को प्रकाश देता है, वैसे ही एक परमात्मा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को चेतना प्रदान करता है। (१३.३३)

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर् एवम् , अन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।

भूतप्रकृतिमोक्षं च, ये विदुर् यान्ति ते परम् ॥३४॥

इस प्रकार तत्त्वज्ञान द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को तथा जीव के प्रकृति के विकारों से मुक्त होने के उपाय को जो लोग जान लेते हैं, वे परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं। (१३.३४)

इस प्रकार क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग नामक तेरहवां अध्याय पूर्ण हुआ।

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

गुणत्रयविभागयोगः

१४. गुणत्रयविभागयोग

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि, ज्ञानानां ज्ञानम् उत्तमम् ।

यज् ज्ञात्वा मुनयः सर्वे, परां सिद्धिम् इतो गताः ॥१॥

श्रीभगवान् बोले— समस्त ज्ञानों में उत्तम उस परम ज्ञान को मैं फिर से कहूंगा, जिसे जानकर सब साधकों ने इस संसार से मुक्त होकर परम सिद्धि प्राप्त की है। (१४.०१)

इदं ज्ञानम् उपाश्रित्य, मम साधर्म्यम् आगताः ।

सर्गेऽपि नोपजायन्ते, प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

इस ज्ञान का आश्रय लेकर मेरे स्वरूप को प्राप्त मनुष्य सृष्टि के आदि में पुनर्जन्म नहीं लेते तथा प्रलयकाल में भी व्यथित नहीं होते। (१४.०२)

पुरुष प्रकृति संयोग से सब प्राणियों की उत्पत्ति

मम योनिर् महद् ब्रह्म, तस्मिन् गर्भं दधाम्य् अहम् ।

संभवः सर्वभूतानां, ततो भवति भारत ॥३॥

हे अर्जुन, मेरी महद् ब्रह्मरूप प्रकृति सभी प्राणियों की योनि है, जिसमें मैं चेतनारूप बीज डालकर (जड़ और चेतन के संयोग से) समस्त भूतों की उत्पत्ति करता हूँ. (९.१० भी देखें.) (१४.०३)

सर्वयोनिषु कौन्तेय, मूर्तयः संभवन्ति याः ।

तासां ब्रह्म महद् योनिर् , अहं बीजप्रदः पिता ॥४॥

हे कुन्तीपुत्र, सभी योनियों में जितने शरीर पैदा होते हैं, प्रकृति उन सबकी माता है और मैं चेतना देनेवाला परम पिता हूँ. (१४.०४)

प्रकृति के गुण ही आत्मा को शरीर से बांधते हैं

सत्त्वं रजस् तम इति, गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।

निबध्नन्ति महाबाहो, देहे देहिनम् अव्ययम् ॥५॥

14.05** हे अर्जुन, प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुणरूपी रस्सी—सत्त्व, रजस् और तमस्—अविनाशी जीव को देह के साथ बांध देते हैं. (१४.०५)

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् , प्रकाशकम् अनामयम् ।

सुखसङ्गेन बध्नाति, ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥६॥

हे पापरहित अर्जुन, इनमें सतोगुण निर्मल होने के कारण विकाररहित और ज्ञान देनेवाला है, यह जीव को सुख और ज्ञान की आसक्ति से बांधता है. (१४.०६)

रजो रागात्मकं विद्धि, तृष्णासङ्गसमुद्रवम् ।

तन् निबध्नाति कौन्तेय, कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥७॥

हे अर्जुन, रजोगुण को रागस्वरूप समझो, जिससे विषय-भोग की प्यास (तृष्णा) और आसक्ति उत्पन्न होती है. यह जीवात्मा को कर्मफल की आसक्ति से बांधता है. (१४.०७)

तमस् त्व अज्ञानजं विद्धि, मोहनं सर्वदेहिनाम् ।

प्रमादालस्यनिद्राभिस् , तन् निबध्नाति भारत ॥८॥

और हे भारत, सब जीवों को भ्रम में डालनेवाले तमोगुण को अज्ञान से उत्पन्न जानो. तमोगुण लापरवाही, आलस और निद्रा के द्वारा जीव को बांधता है. (१४.०८)

सत्त्वं सुखे सञ्जयति, रजः कर्मणि भारत ।

ज्ञानम् आवृत्य तु तमः, प्रमादे सञ्जयत्य् उत ॥९॥

हे अर्जुन, सतोगुण सुख में और रजोगुण कर्म में आसक्ति करवाता है तथा तमोगुण ज्ञान को ढककर जीव को लापरवाह बना देता है. (१४.०९)

प्रकृति के तीन गुणों के लक्षण

रजस् तमश् चाभिभूय, सत्त्वं भवति भारत ।

रजः सत्त्वं तमश्चैव, तमः सत्त्वं रजस् तथा ॥१०॥

हे अर्जुन, कभी रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सतोगुण, कभी सतोगुण और तमोगुण को दबाकर रजोगुण तथा कभी सतोगुण और रजोगुण को दबाकर तमोगुण बढ़ता है. (१४.१०)

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् , प्रकाश उपजायते ।

ज्ञानं यदा तदा विद्याद् , विवृद्धं सत्त्वम् इत्य् उत ॥११॥

जब ज्ञान का प्रकाश इस देह के सभी द्वारों (अर्थात् समस्त इन्द्रियों) को प्रकाशित करता है (अर्थात् जब जीवात्मा के अन्तःकरण में ज्ञान के प्रकाश का उदय होता है), तब सतोगुण को बढ़ा हुआ जानना चाहिए. (१४.११)

लोभः प्रवृत्तिर् आरम्भः, कर्मणाम् अशमः स्पृहा ।

रजस्य् एतानि जायन्ते, विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥

हे भरतश्रेष्ठ, रजोगुण के बढ़ने पर लोभ, सक्रियता, सकाम कर्म, बेचैनी, लालसा आदि उत्पन्न होते हैं. (१४.१२)

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च, प्रमादो मोह एव च ।

तमस्य् एतानि जायन्ते, विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥

हे कुरुनन्दन, तमोगुण के बढ़ने पर अज्ञान, निष्क्रियता, लापरवाही, भ्रम आदि उत्पन्न होते हैं. (१४.१३)

त्रिगुण ही आत्मा के पुनर्जन्म के वाहक हैं

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु, प्रलयं याति देहभृत् ।

तदोत्तमविदां लोकान् , अमलान् प्रतिपद्यते ॥१४॥

जिस समय सतोगुण बढ़ा हो, उस समय यदि मनुष्य मरता है, तो जीव उत्तम कर्म करनेवालों के निर्मल लोक अर्थात् स्वर्ग को जाता है. (१४.१४)

रजसि प्रलयं गत्वा, कर्मसङ्गिषु जायते ।

तथा प्रलीनस् तमसि, मूढयोनिषु जायते ॥१५॥

जिस समय रजोगुण बढ़ा हो, उस समय यदि मनुष्य मरता है, तो वह कर्मों में आसक्तिवाले मनुष्यों में जन्म लेता है. तमोगुण की वृद्धि के समय मरनेवाला मनुष्य पशु आदि मूढ़ योनियों में जन्म लेता है. (१४.१५)

कर्मणः सुकृतस्याहुः, सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।

रजसस् तु फलं दुःखम् , अज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

सात्त्विक कर्म का फल शुभ और निर्मल कहा गया है, राजसिक कर्म का फल दुःख और तामसिक कर्म का फल अज्ञान कहा गया है. (१४.१६)

सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं, रजसो लोभ एव च ।

प्रमादमोहौ तमसो, भवतोऽज्ञानम् एव च ॥१७॥

सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं, रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो, भवतोऽज्ञानम् एव च ॥१७॥

सतोगुण से ज्ञान, रजोगुण से लोभ तथा तमोगुण से लापरवाही, भ्रम और अज्ञान उत्पन्न होते हैं. (१४.१७)

उर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था, मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।

जघन्यगुणवृत्तिस्था, अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

सत्त्वगुण में स्थित व्यक्ति उत्तम लोकों को जाते हैं, राजस व्यक्ति मनुष्ययोनि में आते हैं और तमोगुण की हीन प्रवृत्तियों में स्थित तामस मनुष्य नीच योनियों में जन्म लेते हैं. (१४.१८)

गुणातीत होने पर मोक्ष

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं, यदा द्रष्टानुपश्यति ।

गुणेभ्यश्च परं वेत्ति, मद्रावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

जब विवेकी मनुष्य तीनों गुणों के अतिरिक्त किसी अन्य को कर्ता नहीं समझता है तथा गुणों से परे मुझ परमात्मा को तत्त्व से जान लेता है, उस समय वह मेरे स्वरूप अर्थात् सारूप्य मुक्ति को प्राप्त करता है. (३.२७, ५.०९, १३.२९ भी देखें.) (१४.१९)

गुणान् एतान् अतीत्य त्रीन् , देही देहसमुद्भवान् ।

जन्ममृत्युजरादुःखैर् , विमुक्तोऽमृतम् अश्नुते ॥२०॥

जब मनुष्य देह की उत्पत्ति के कारण तथा देह से उत्पन्न तीनों गुणों से परे हो जाता है, तब वह मुक्ति प्राप्तकर जन्म, वृद्धावस्था और मृत्यु, के दुःखों से विमुक्त हो जाता है. (१४.२०)

गुणातीत होने की प्रक्रिया

अर्जुन उवाच

कैर् लिङ्गैस् त्रीन् गुणान् एतान् , अतीतो भवति प्रभो ।

किमाचारः कथं चैतांस् , त्रीन् गुणान् अतिवर्तते ॥२१॥

अर्जुन बोले— हे प्रभो, इन तीनों गुणों से अतीत मनुष्य के क्या लक्षण हैं ? उसका आचरण कैसा होता है ? और मनुष्य इन तीनों गुणों से परे कैसे हो सकता है ?

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च, मोहम् एव च पाण्डव ।

न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि, न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥२२॥

उदासीनवद् आसीनो, गुणैर् यो न विचाल्यते ।

गुणा वर्तन्त इत्य एव, योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥

श्रीभगवान् बोले— हे अर्जुन, जो मनुष्य तीनों गुणों के कार्य ज्ञान, सक्रियता और भ्रम में बंध जाने पर बुरा नहीं मानता और उनसे मुक्त होने पर उनकी आकांक्षा भी नहीं करता, जो साक्षी के समान रहकर गुणों के द्वारा विचलित नहीं होता तथा "गुण ही अपने-अपने कार्य कर रहे हैं" ऐसा समझकर परमात्मा में स्थिर भाव से स्थित रहता है; (१४.२२-२३)

समदुःखसुखः स्वस्थः, समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।

तुल्यप्रियाप्रियो धीरस् , तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥

मानापमानयोस् तुल्यस् , तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।

सर्वारम्भपरित्यागी, गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

14.24** जो निरन्तर आत्मभाव में रहता है तथा सुख-दुःख में समान रहता है; जिसके लिए मिट्टी, पत्थर और सोना बराबर है; जो धीर है; जो प्रिय-अप्रिय, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान तथा शत्रु-मित्र में समान भाव रखता है और जो सम्पूर्ण कर्मों में कर्तापन के भाव से रहित है वह गुणातीत कहलाता है. (१४.२४-२५)

अनन्यभक्ति द्वारा गुण-बन्धनों को काटना सम्भव

मां च यो ऽव्यभिचारेण, भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान् समतीत्यैतान् , ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

14.26** जो मनुष्य अनन्यभक्ति से निरन्तर मेरी उपासना करता है, वह प्रकृति के तीनों गुणों को पार करके परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के योग्य हो जाता है. (७.१४, १५.१९ भी देखें.) (१४.२६)

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम् , अमृतस्याव्ययस्य च ।

शाश्वतस्य च धर्मस्य, सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

क्योंकि, मैं (परब्रह्म) ही अविनाशी अक्षरब्रह्म, शाश्वत धर्म तथा परम आनन्द का स्रोत हूँ. (१४.२७)

इस प्रकार गुणत्रयविभागयोग नामक चौदहवां अध्याय पूर्ण हुआ.

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

पुरुषोत्तमयोगः

१५. पुरुषोत्तमयोग

सृष्टि माया की शक्ति से उत्पन्न वृक्ष के समान

श्रीभगवानुवाच

उर्ध्वमूलम् अधःशाखम् , अश्वत्थं प्राहुर् अव्ययम् ।

छन्दांसि यस्य पर्णानि, यस् तं वेद स वेदवित् ॥१॥

श्रीभगवान् बोले— इस संसार को एक सनातन पीपल का वृक्ष कहा गया है, जिसका स्रोत (मूल) परमात्मा है, अनन्त ब्रह्माण्ड जिसकी शाखाएं हैं तथा वेदमंत्र जिसके पत्ते हैं. इस संसाररूपी वृक्ष को जो मनुष्य मूल सहित (तत्त्व से) जान लेता है, वही वेदों का जाननेवाला है. (गीता १०.०८ तथा कठ.उ. ६.०१, भा.पु. ११.१२.२०-२४ भी देखें.) (१५.०१)

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास् तस्य शाखा

गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।

अधश्च मूलान्य् अनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

इस वृक्ष की शाखाएं सभी ओर फैली हुई हैं; प्रकृति के गुणरूपी जल से इसकी वृद्धि होती है; विषयभोग इसकी कोंपलें हैं; इस वृक्ष की (अहंकार और इच्छारूपी) जड़ें पृथ्वीलोक में कर्मबन्धन बनकर व्याप्त हैं. (१५.०२)

मोह-वृक्ष को काटने और प्रभु-शरण से मोक्ष-प्राप्ति कैसे ?

न रूपम् अस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर् न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थम् एनं सुविरूढमूलम्
असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥३॥
ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं
यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तम् एव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

इस मायारूपी संसार-वृक्ष के स्वरूप, आदि तथा अन्त का पता नहीं है. (इसलिए) मनुष्य इसकी (अहंकार और इच्छारूपी) जड़ों को ज्ञान और वैराग्यरूपी शस्त्र द्वारा काटकर ऐसा सोचते हुए—कि मैं उस परम पुरुष की शरण में हूँ, जिससे ये सारी सनातन विभूतियाँ व्याप्त हैं—उस परमतत्त्व की खोज करे, जिसे प्राप्तकर मनुष्य पुनः इस संसार में वापस नहीं आता. (१५.०३-०४)

15.05 निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा**

अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर् विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्
गच्छन्त्य् अमृदाः पदम् अव्ययं तत् ॥५॥

जो मान और मोह आदि से निवृत्त हो चुके हैं, जिन्होंने आसक्तिरूपी दोष को जीत लिया है, जो परमात्मा के स्वरूप में नित्य स्थित हैं और जिनकी कामनाएं पूर्णरूप से समाप्त हो चुकी हैं तथा जो सुख-दुःख नामक द्वन्द्वों से विमुक्त हो गए हैं—ऐसे ज्ञानी जन उस अविनाशी परमधाम को प्राप्त करते हैं. (१५.०५)

न तद् भासयते सूर्यो, न शशाङ्को न पावकः ।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते, तद् धाम परमं मम ॥६॥

उस स्वयंप्रकाशित परमधाम को न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही. वही मेरा परमधाम है, जिसे प्राप्त कर मनुष्य इस संसार में पुनर्जन्म नहीं लेते. (गीता १३.१७, १५.१२ तथा कठ.उ. ५.१५, श्वे.उ. ६.१४, मु.उ. २.०२.१० भी देखें.) (१५.०६)

जीवात्मा भोक्ता है

ममैवांशो जीवलोके, जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि, प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥

15.07 जीवलोके में सनातन जीवभूत, अर्थात् जीवात्मा, मेरी ही शक्ति का एक अंश है, जो प्रकृति में स्थित मन सहित छः इन्द्रियों को चेतना प्रदान करता है. (१५.०७)**

शरीरं यद् अवाप्नोति, यच् चाप्य् उत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति, वायुर् गन्धान् इवाशयात् ॥८॥

15.08 जैसे हवा फूल से गन्ध को निकालकर एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाती है, वैसे ही जीवात्मा मृत्यु के बाद छः इन्द्रियों को एक शरीर से दूसरे शरीर में ले जाता है. (२.१३ भी देखें.) (१५.०८)**

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च, रसनं घ्राणम् एव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं, विषयान् उपसेवते ॥९॥
उत्क्रामन्तं स्थितं वापि, भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमृदा नानुपश्यन्ति, पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

यह जीव कर्ण, चक्षु, त्वचा, रसना, घ्राण और मन के द्वारा विषयों का सेवन करता है. अज्ञानी जन जीव को एक शरीर से दूसरे शरीर में जाते हुए अथवा शरीर में स्थित गुणों से समन्वित होकर विषयों को भोगते हुए नहीं देख सकते; उसे केवल ज्ञानचक्षु-वाले ही देख सकते हैं. (१५.०९-१०)

यतन्तो योगिनश्चैनं, पश्यन्त्य् आत्मन्य् अवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्य् अकृतात्मानो, नैनं पश्यन्त्य् अचेतसः ॥११॥

प्रयत्न करनेवाले योगी जन अपने अन्तःकरण में स्थित जीवात्मा को देखते हैं; अशुद्ध अन्तःकरण-वाले अविवेकी मनुष्य यत्न करते हुए भी आत्मा को नहीं देख (या जान) सकते हैं. (१५.११)

ब्रह्म सब वस्तुओं का सार है

यद् आदित्यगतं तेजो, जगद् भासयतेऽखिलम् ।
यच् चन्द्रमसि यच् चाग्नौ, तत् तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

जो तेज सूर्य में स्थित होकर सारे संसार को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमा में और अग्नि में है, उसे तुम मेरा ही तेज जानो. (१३.१७, १५.०६ भी देखें.) (१५.१२)

गाम् आविश्य च भूतानि, धारयाम्य् अहम् ओजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः, सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥

मैं ही पृथ्वी में प्रवेश करके अपने ओज से सभी भूतों को धारण करता हूँ और रस देनेवाला चन्द्रमा बनकर सभी वनस्पतियों को रस प्रदान करता हूँ. (१५.१३)

अहं वैश्वानरो भूत्वा, प्राणिनां देहम् आश्रितः ।

प्राणापानसमायुक्तः, पचाम्य् अन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

मैं ही सब प्राणियों के शरीर में स्थित वैश्वानर अग्नि हूँ, जो प्राण और अपान वायु से मिलकर चारों प्रकार के अन्न को पचाता है. (१५.१४)

**** सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो**

मत्तः स्मृतिर् ज्ञानम् अपोहनं च ।

वेदैश्च सर्वैर् अहम् एव वेद्यो

वेदान्तकृद् वेदविद् एव चाहम् ॥१५॥

15.15** तथा मैं ही सभी प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित हूँ. स्मृति, ज्ञान तथा शंका समाधान (विवेक या समाधि द्वारा) भी मुझसे ही होता है. समस्त वेदों के द्वारा जानने योग्य वस्तु, वेदान्त का कर्ता तथा वेदों का जाननेवाला भी मैं ही हूँ. (६.३९ भी देखें.) (१५.१५)

क्षर, अक्षर और अक्षरातीत क्या हैं ?

द्वाव् इमौ पुरुषौ लोके, क्षरश्चाक्षर एव च ।

क्षरः सर्वाणि भूतानि, कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

लोक में (परब्रह्म के) क्षर (नश्वर) पुरुष और अक्षर (अविनाशी) पुरुष नामक दो दिव्य स्वरूप हैं. समस्त जगत् क्षर पुरुष का विस्तार है और अक्षर पुरुष (अर्थात् आत्मा) अविनाशी कहलाता है. (१५.१६)

उत्तमः पुरुषस् त्व् अन्यः, परमात्मेत्य् उदाहृतः ।

यो लोकत्रयम् आविश्य, बिभर्त्य् अव्यय ईश्वरः ॥१७॥

परन्तु इन दोनों से परे एक तीसरा उत्तम दिव्य पुरुष है, जो परब्रह्म अर्थात् परमात्मा कहलाता है. वह तीनों लोकों में प्रवेश करके ईश्वररूप से सब का पालन-पोषण करता है. (१५.१७)

यस्मात् क्षरम् अतीतोऽहम्, अक्षराद् अपि चोत्तमः ।

अतोऽस्मि लोके वेदे च, प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

15.18** क्योंकि मैं, परब्रह्म परमात्मा, क्षर पुरुष (अर्थात् नारायण) और अक्षर पुरुष (अर्थात् ब्रह्म) दोनों से उत्तम (अर्थात् परे) हूँ, इसलिए लोक और वेद में पुरुषोत्तम कहलाता हूँ. (मु.उ. २.०१.०२ भी देखें.) (१५.१८)

यो माम् एवम् असंमूढो, जानाति पुरुषोत्तमम् ।

स सर्वविद् भजति मां, सर्वभावेन भारत ॥१९॥

हे अर्जुन, मुझ पुरुषोत्तम को इस प्रकार तत्त्वतः जाननेवाला ज्ञानी (परा भाव से) निरन्तर मुझ परमेश्वर को ही भजता (अर्थात् भक्ति और प्रेम करता) है. (७.१४, १४.२६, १८.६६ भी देखें.) (१५.१९)

इति गुह्यतमं शास्त्रम्, इदम् उक्तं मयाऽनघ ।

एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्, कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

हे निष्पाप अर्जुन, इस प्रकार मेरे द्वारा कहे गए इस गुह्यतम शास्त्र को तत्त्वतः जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतार्थ हो जाता है. (१५.२०)

इस प्रकार पुरुषोत्तमयोग नामक पन्द्रहवां अध्याय पूर्ण हुआ.

अथ षोडशोऽध्यायः

दैवासुरसंपद्विभागयोगः

१६. दैवासुरसंपद्विभागयोग

मोक्ष के लिए अर्जित प्रमुख दैवी गुणों की सूची

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्, ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।

दानं दमश्च यज्ञश्च, स्वाध्यायस् तप आर्जवम् ॥१॥

अहिंसा सत्यम् अक्रोधस्, त्यागः शान्तिर् अपैशुनम् ।

दया भूतेष्व् अलोलुप्त्वं, मार्दवं हीर् अचापलम् ॥२॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचम्, अद्रोहो नातिमानिता ।

भवन्ति संपदं दैवीम्, अभिजातस्य भारत ॥३॥

श्रीभगवान् बोले— हे अर्जुन, अभय, अन्तःकरण की शुद्धि, ज्ञानयोग में दृढ़ स्थिति, दान, इन्द्रियों का दमन, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, क्रोध का अभाव, त्याग, शान्ति, किसी की निन्दा न करना, दया, विषयों से न ललचाना, कोमलता, अकर्तव्य में लज्जा, चपलता का अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, शरीर की शुद्धि, किसी से वैर न करना, गर्व का अभाव आदि दैवी संपदा को प्राप्त हुए मनुष्य के (छब्बीस) लक्षण हैं. (१६.०१-०३)

आध्यात्मिक यात्रा से पहले त्याज्य आसुरी गुणों की सूची

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च, क्रोधः पारुष्यम् एव च ।

अज्ञानं चाभिजातस्य, पार्थ संपदम् आसुरीम् ॥४॥

हे पार्थ, दम्भ, घमण्ड, अभिमान, क्रोध, कठोर वाणी और अज्ञान ये सब आसुरी सम्पदा प्राप्त मनुष्यों के लक्षण हैं. (१६.०४)

दैवी संपद्वि विमोक्षाय, निबन्धायासुरी मता ।

मा शुचः संपदं दैवीम्, अभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥

दैवी सम्पदा मोक्ष के लिए और आसुरी सम्पदा बन्धन के लिए है. हे पाण्डव, तुम शोक मत करो, क्योंकि तुम्हें दैवी सम्पदा प्राप्त है. (१६.०५)

केवल दो प्रकार के मानव, ज्ञानी और अज्ञानी

द्वौ भूतसर्गो लोकेऽस्मिन् , दैव आसुर एव च ।

दैवो विस्तरशः प्रोक्त, आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥

हे पार्थ, इस लोक में दो ही जाति के मनुष्य हैं दैवी और आसुरी. दैवी प्रकृतिवालों का वर्णन मैंने विस्तारपूर्वक किया है, अब तुम आसुरी प्रकृतिवालों के बारे में सुनो. (१६.०६)

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च, जना न विदुर् आसुराः ।

न शौचं नापि चाचारो, न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

आसुरी स्वभाववाले मनुष्य "क्या करना चाहिए तथा क्या नहीं करना चाहिए" इन दोनों को नहीं जानते हैं. उनमें न तो बाहर-भीतर की शुद्धि होता है, न सदाचार और न सत्यभाषण ही. (१६.०७)

असत्यम् अप्रतिष्ठं ते, जगद् आहूर् अनीश्वरम् ।

अपरस्परसंभूतं, किम् अन्यत् कामहैतुकम् ॥८॥

वे कहते हैं कि संसार असत्य, आश्रयरहित, बिना ईश्वर के और बिना किसी क्रम से अपने-आप केवल स्त्री-पुरुष के कामुक संयोग से ही उत्पन्न है. इसके सिवा और कोई भी दूसरा कारण नहीं है. (१६.०८)

एतां दृष्टिम् अवष्टभ्य, नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।

प्रभवन्त्य् उग्रकर्माणः, क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९॥

ऐसे (मिथ्या, नास्तिक) दृष्टिकोण से जिनकी बुद्धि नष्ट हो गई है, ऐसे मन्द बुद्धियुक्त, घोर कर्म करनेवाले, अपकारी मनुष्यों का जन्म जगत् का नाश करने के लिए ही होता है. (१६.०९)

कामम् आश्रित्य दुष्पूरं, दम्भमानमदान्विताः ।

मोहाद् गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् , प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

वे दम्भ, मान और मद में चूर होकर; कभी पूरी न होनेवाली कामनाओं का आश्रय लेकर अज्ञानवश मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण करके तथा अपवित्र आचरण धारणकर संसार में रहते हैं. (१६.१०)

चिन्ताम् अपरिमेयां च, प्रलयान्ताम् उपाश्रिताः ।

कामोपभोगपरमा, एतावद् इति निश्चिताः ॥११॥

जीवनभर अपार चिन्ताओं से ग्रस्त और विषयभोग को ही परम लक्ष्य माननेवाले ये लोग ऐसा समझते हैं कि यह विषयभोग ही सब कुछ है. (१६.११)

आशापाशशतैर् बद्धाः, कामक्रोधपरायणाः ।

ईहन्ते कामभोगार्थम् , अन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥

आशा की सैकड़ों बेड़ियों से बंधे हुए, काम और क्रोध के वशीभूत होकर, विषयों के भोग के लिए अन्यायपूर्वक धन-संचय करने की चेष्टा करते हैं. (१६.१२)

इदम् अद्य मया लब्धम् , इमं प्राप्ये मनोरथम् ।

इदम् अस्तीदम् अपि मे, भविष्यति पुनर् धनम् ॥१३॥

(वे ऐसा सोचते हैं कि) मैंने आज यह प्राप्त किया है और अब इस मनोरथ को पूरा करूंगा; मेरे पास इतना धन है तथा इससे भी अधिक धन भविष्य में होगा. (१६.१३)

असौ मया हतः शत्रुर् , हनिष्ये चापरान् अपि ।

ईश्वरोऽहम् अहं भोगी, सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥१४॥

वह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया है और दूसरे शत्रुओं को भी मैं मारूंगा. मैं सर्वसमर्थ (ईश्वर) और ऐश्वर्य को भोगनेवाला हूँ. मैं सिद्ध, बलवान् और सुखी हूँ (१६.१४)

आढ्योऽभिजनवान् अस्मि, कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।

यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य, इत्य् अज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

मैं बड़ा धनी और अच्छे परिवारवाला हूँ. मेरे समान दूसरा कौन है ? मैं यज्ञ करूंगा, दान दूंगा और मौज करूंगा. इस प्रकार वे अज्ञान से मोहित रहते हैं. (१६.१५)

अनेकचित्तविभ्रान्ता, मोहजालसमावृताः ।

प्रसक्ताः कामभोगेषु, पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

अनेक प्रकार से भ्रमित चित्तवाले, मोहजाल में फंसे, विषयभोगों में अत्यन्त आसक्त, ये लोग घोर अपवित्र नरक में गिरते हैं. (१६.१६)

आत्मसंभाविताः स्तब्धा, धनमानमदान्विताः ।

यजन्ते नामयज्ञैस् ते, दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

अपनेआप को श्रेष्ठ माननेवाले, घमंडी, धन और मान के मद में चूर रहनेवाले मनुष्य अविधिपूर्वक नाममात्र के दिखावटी यज्ञ करते हैं. (१६.१७)

अहंकारं बलं दर्पं, कामं क्रोधं च संश्रिताः ।

माम् आत्मपरदेहेषु, प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

अहंकार, बल, घमंड, कामना और क्रोध के वशीभूत, दूसरों की निन्दा करनेवाले ये लोग अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझ परमात्मा से द्वेष करते हैं. (१६.१८)

अज्ञान का फल है दुःख

तान् अहं द्विषतः क्रूरान् , संसारेषु नराधमान् ।

क्षिपाम्य् अजस्रम् अशुभान् , आसुरीष् एव योनिषु ॥१९॥

ऐसे द्वेष करनेवाले, क्रूर और अपवित्र नराधमों को मैं संसार में बार-बार आसुरी योनियों में ही डालता हूँ. (१६.१९)

आसुरीं योनिम् आपन्ना, मृदा जन्मनि जन्मनि ।

माम् अप्राप्यैव कौन्तेय, ततो यान्त्य् अधमां गतिम् ॥२०॥

हे अर्जुन, वे मूढ़ मनुष्य मुझे प्राप्त न करके जन्म-जन्म में आसुरी योनि को प्राप्त करते हैं, फिर घोर नरक में जाते हैं. (१६.२०)

काम-क्रोध-लोभ नरक के तीन द्वार

त्रिविधं नरकस्येदं, द्वारं नाशनम् आत्मनः ।

कामः क्रोधस् तथा लोभस् , तस्माद् एतत् त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

16.21** काम, क्रोध और लोभ, ये जीव को नरक की ओर ले जानेवाले तीन द्वार हैं, इसलिए इन तीनों का त्याग करना (सीखना) चाहिए. (म.भा. ५.३३.६६ भी देखें.)

(१६.२१)

एतैर् विमुक्तः कौन्तेय, तमोद्वारैस् त्रिभिर् नरः ।

आचरन्त्य् आत्मनः श्रेयस् , ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

हे अर्जुन, नरक के इन तीनों द्वारों से मुक्त व्यक्ति अपने कल्याण के लिए आचरण करता है, इससे वह परमगति अर्थात् मुझे प्राप्त करता है. (१६.२२)

शास्त्रीय विधान का पालन अनिवार्य

यः शास्त्रविधिम् उत्सृज्य, वर्तते कामकारतः ।

न स सिद्धिम् अवाप्नोति, न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

जो मनुष्य शास्त्रविधि को छोड़कर अपनी इच्छा से मनमाना आचरण करता है, उसे न पूर्णत्व की सिद्धि मिलती है, न परमधाम और न सुख ही. (१६.२३)

तस्माच् छास्त्रं प्रमाणं ते, कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं, कर्म कर्तुम् इहार्हसि ॥२४॥

16.24** मनुष्य के कर्तव्य और अकर्तव्य के निर्णय में शास्त्र ही प्रमाण है. अतः तुम्हें शास्त्रोक्त विधान के अनुसार ही अपना कर्तव्यकर्म करना चाहिए. (१६.२४)

इस प्रकार दैवासुरसंपद्विभागयोग नामक सोलहवां अध्याय पूर्ण हुआ.

अथ सप्तदशोऽध्यायः

श्रद्धात्रयविभागयोगः

१७. श्रद्धात्रयविभागयोग

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिम् उत्सृज्य, यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।

तेषां निष्ठा तु का कृष्ण, सत्त्वम् आहो रजस् तमः ॥१॥

अर्जुन बोले— हे कृष्ण, जो व्यक्ति शास्त्र-विधि छोड़कर केवल श्रद्धापूर्वक ही पूजा आदि करते हैं, उनकी निष्ठा कैसी है ? क्या वह सात्त्विक है अथवा राजसिक या तामसिक है ? (१७.०१)

आस्था के तीन प्रकार

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा, देहिनां सा स्वभावजा ।

सात्त्विकी राजसी चैव, तामसी चेति तां शृणु ॥२॥

श्रीभगवान् बोले— मनुष्यों की स्वाभाविक श्रद्धा (अर्थात् निष्ठा) तीन प्रकार की— सात्त्विक, राजसिक और तामसिक— होती है, उसे सुनो. (१७.०२)

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य, श्रद्धा भवति भारत ।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो, यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

17.03** हे अर्जुन, सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके स्वभाव (तथा संस्कार) के अनुरूप होती है. मनुष्य अपने स्वभाव से जाना जाता है. मनुष्य जैसा भी चाहे वैसा ही बन सकता है (यदि वह श्रद्धापूर्वक अपने इच्छित ध्येय का चिन्तन करता रहे). (१७.०३)

यजन्ते सात्त्विका देवान् , यक्षरक्षांसि राजसाः ।

प्रेतान् भूतगणांश् चान्ये, यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

सात्त्विक व्यक्ति देवी-देवताओं को पूजते हैं; राजस मनुष्य यक्ष और राक्षसों को तथा तामस व्यक्ति भूतों और प्रेतों की पूजा करते हैं. (१७.०४)

अशास्त्रविहितं घोरं, तप्यन्ते ये तपो जनाः ।

दम्भाहंकारसंयुक्ताः, कामरागबलान्विताः ॥५॥

कर्षयन्तः शरीरस्थं, भूतग्रामम् अचेतसः ।

मां चैवान्तःशरीरस्थं, तान् विद्ध्य् आसुरनिश्चयान् ॥६॥

जो लोग शास्त्रविधि से रहित घोर तप करते हैं, जो दम्भ और अभिमान से युक्त हैं, जो कामना और आसक्ति से प्रेरित हैं, जो शरीर में स्थित पंचभूतों को और सबके अन्तःकरण में रहनेवाला मुझ परमात्मा को भी कष्ट देनेवाले अविवेकी लोग हैं, उन्हें तुम आसुरी स्वभाववाले जानो. (१७.०५-०६)

भोजन के तीन प्रकार

आहारस् त्व् अपि सर्वस्य, त्रिविधो भवति प्रियः ।

यज्ञस् तपस् तथा दानं, तेषां भेदम् इमं शृणु ॥७॥

सबका प्रिय भोजन भी तीन प्रकार का होता है और वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन प्रकार के होते हैं. उनके भेद तुम मुझसे सुनो. (१७.०७)

आयुःसत्त्वबलारोग्य-सुखप्रीतिविवर्धनाः ।

रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या, आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥८॥

आयु, बुद्धि, बल, स्वास्थ्य, सुख और प्रसन्नता बढ़ानेवाले; रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा शरीर को शक्ति देनेवाले आहार सात्त्विक व्यक्ति को प्रिय होते हैं।

(१७.०८)

कट्वम्ललवणात्युष्ण-तीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।

आहारा राजसस्येष्टा, दुःखशोकामयप्रदाः ॥९॥

दुःख, चिन्ता और रोगों को उत्पन्न करनेवाले; बहुत कड़वे, खट्टे, नमकीन, गरम, तीखे, रूखे और दाहकारक आहार राजसिक व्यक्ति को प्रिय होते हैं। (१७.०९)

यातयामं गतरसं, पूति पर्युषितं च यत्

उच्छिष्टम् अपि चामेध्यं, भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी, जूठा और (मांस, मदिरा आदि) अपवित्र आहार तामसिक मनुष्य को प्रिय होता है। (१७.१०)

यज्ञ के तीन प्रकार

अफलाकाङ्क्षिभिर् यज्ञो, विधिदृष्टो य इज्यते ।

यष्टव्यम् एवेति मनः, समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

यज्ञ करना हमारा कर्तव्य है— ऐसा सोचकर, बिना फल की आशा करनेवालों द्वारा विधिपूर्वक किया गया यज्ञ सात्त्विक है। (१७.११)

अभिसन्धाय तु फलं, दम्भार्थम् अपि चैव यत् ।

इज्यते भरतश्रेष्ठ, तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

हे अर्जुन, जो यज्ञ फल की इच्छा से अथवा दिखाने के लिए किया जाता है, उसे तुम राजसिक समझो। (१७.१२)

विधिहीनम् असृष्टान्नं, मन्त्रहीनम् अदक्षिणम् ।

श्रद्धाविरहितं यज्ञं, तामसं परिचक्षते ॥१३॥

शास्त्रविधि, अन्नदान, मंत्र, दक्षिणा और श्रद्धा के बिना किए जानेवाले यज्ञ को तामसिक यज्ञ कहते हैं। (१७.१३)

विचार, वाणी, और कर्म का तप

देवद्विजगुरुप्राज्ञ-पूजनं शौचम् आर्जवम् ।

ब्रह्मचर्यम् अहिंसा च, शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

देवी-देवता, पुरोहित, गुरु और ज्ञानीजनों का पूजन; पवित्रता, सदाचार, ब्रह्मचर्य और अहिंसा; इन्हें शारीरिक तप कहा जाता है। (१७.१४)

अनुद्वेगकरं वाक्यं, सत्यं प्रियहितं च यत् ।

स्वाध्यायाभ्यसनं चैव, वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

वाणी वही अच्छी है जो दूसरों के मन में अशान्ति पैदा न करे, जो सत्य, मधुर और हितकारक हो तथा जिसका उपयोग शास्त्रों के पढ़ने में हो। ऐसी अच्छी वाणी को वाणी का तप कहते हैं। (१७.१५)

मनःप्रसादः सौम्यत्वं, मौनम् आत्मविनिग्रहः ।

भावसंशुद्धिर् इत्य् एतत्, तपो मानसम् उच्यते ॥१६॥

मन की प्रसन्नता, सरलता, चित्त की स्थिरता, मन का नियंत्रण और शुद्ध विचार— इन्हें मानसिक तप कहते हैं। (१७.१६)

तप के तीन प्रकार

श्रद्धया परया तप्तं, तपस् तत् त्रिविधं नरैः ।

अफलाकाङ्क्षिभिर् युक्तैः, सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥

बिना फल की इच्छा से, परम श्रद्धापूर्वक किए गए उपरोक्त तीनों प्रकार मन, वाणी और शरीर के तप को सात्त्विक तप कहते हैं (१७.१७)

सत्कारमानपूजार्थं, तपो दम्भेन चैव यत् ।

क्रियते तद् इह प्रोक्तं, राजसं चलम् अध्रुवम् ॥१८॥

जो तप दूसरों से सत्कार, मान और पूजा करवाने के लिए अथवा केवल दिखाने के लिए ही किया जाए, ऐसे अनिश्चित और क्षणिक फलवाले तप को राजसिक तप कहा गया है।

(१७.१८)

मूढग्राहेणात्मनो यत्, पीडया क्रियते तपः ।

परस्योत्सादनार्थं वा, तत् तामसम् उदाहृतम् ॥१९॥

जो तप मूढ़तापूर्वक हठ से अपने शरीर को पीड़ा देकर अथवा दूसरों को क्षति पहुंचाने के लिए किया जाता है, उसे तामसिक तप कहा गया है। (१७.१९)

दान के तीन प्रकार

दातव्यम् इति यद् दानं, दीयतेऽनुपकारिणे ।

देशे काले च पात्रे च, तद् दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

दान देना हमारा कर्तव्य है— ऐसे भाव से जो दान देश, काल और पात्र के अनुसार बिना प्रत्युपकार की इच्छा से दिया जाता है, वह दान सात्त्विक माना गया है। (१७.२०)

यत् तु प्रत्युपकारार्थं, फलम् उद्दिश्य वा पुनः।

दीयते च परिक्लिष्टं, तद् दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

जो दान फल-प्राप्ति, प्रत्युपकार की इच्छा से अथवा बिना श्रद्धा से दिया जाता है, वह दान राजसिक कहा गया है। (१७.२१)

अदेशकाले यद् दानम्, अपात्रेभ्यश्च दीयते ।

असत्कृतम् अवज्ञातं, तत् तामसम् उदाहृतम् ॥२२॥

जो दान देश, काल और पात्र का विचार किए बिना अथवा पात्र का अनादर या तिरस्कार करके दिया जाता है, वह दान तामसिक कहा गया है. (१७.२२)

ब्रह्म के तीन नाम

ॐ तत् सद् इति निर्देशो, ब्रह्मणस् त्रिविधः स्मृतः ।

ब्राह्मणास् तेन वेदाश्च, यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

ब्रह्म के—जिनके द्वारा सृष्टि के आदि में वेदों, ब्राह्मणों और यज्ञों की रचना हुई है—ओम्, तत् और सत् तीन नाम कहे गए हैं. (१७.२३)

तस्माद् ओम् इत्य् उदाहृत्य, यज्ञदानतपःक्रियाः ।

प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः, सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

इसलिए, परब्रह्म परमात्मा को जाननेवालों द्वारा (शास्त्रविधि से) किए हुए यज्ञ, दान, तप आदि वैदिक क्रियाओं का प्रारम्भ सदा परमात्मा के ओंकार नाम के उच्चारण से ही होता है. (१७.२४)

तद् इत्य् अनभिसंधाय, फलं यज्ञतपःक्रियाः ।

दानक्रियाश्च विविधाः, क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥२५॥

फल की इच्छा नहीं रखनेवाले मुमुक्षुओं द्वारा नाना प्रकार के यज्ञ, तप, दान आदि क्रियाएं 'तत्' शब्द का उच्चारण करके की जाती हैं. (१७.२५)

सद्भावे साधुभावे च, सद् इत्य् एतत् प्रयुज्यते ।

प्रशस्ते कर्मणि तथा, सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

हे पार्थ, 'सत्' शब्द का प्रयोग परमात्मा के अस्तित्व, अच्छे भाव तथा शुभ कर्म के लिए भी होता है. (१७.२६)

यज्ञे तपसि दाने च, स्थितिः सद् इति चोच्यते ।

कर्म चैव तदर्थीयं, सद् इत्य् एवाभिधीयते ॥२७॥

यज्ञ, तप और दान में श्रद्धा तथा परमात्मा के लिए किए जानेवाले (निष्काम) कर्म को भी 'सत्' कहते हैं. (१७.२७)

अश्रद्धया हुतं दत्तं, तपस् तप्तं कृतं च यत् ।

असद् इत्य् उच्यते पार्थ, न च तत् प्रेत्य नो इह ॥२८॥

हे पार्थ, यज्ञ, दान, तप आदि जो कुछ भी कर्म बिना श्रद्धा के किया जाता है, वह 'असत्' कहा जाता है, जिसका न इस लोक में और न परलोक में ही कोई प्रयोजन है. (१७.२८)

इस प्रकार श्रद्धात्रयविभागयोग नामक सत्रहवां अध्याय पूर्ण हुआ.

एथ अष्टादशोऽध्यायः

मोक्षसंन्यासयोगः

१८. निरहंकार से मोक्ष की प्राप्ति

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो, तत्त्वम् इच्छामि वेदितुम् ।

त्यागस्य च हृषीकेश, पृथक् केशिनिषूदन ॥१॥

अर्जुन बोले— हे महाबाहो, हे अन्तर्यामिन्, हे वासुदेव; मैं संन्यास और त्याग को तथा इनके भेद को अच्छी तरह जानना चाहता हूँ. (१८.०१)

संन्यास और त्याग की परिभाषा

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं, संन्यासं कवयो विदुः ।

सर्वकर्मफलत्यागं, प्राहुस् त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

18.02** श्रीभगवान् बोले— सकाम कर्मों के परित्याग को ज्ञानीजन 'संन्यास' कहते हैं; तथा विवेकी मनुष्य सभी कर्मों के फलों (में आसक्ति) के त्याग को 'त्याग' कहते हैं. (५.०१, ५.०५, ६.०१ भी देखें.) (१८.०२)

त्याज्यं दोषवद् इत्य् एके, कर्म प्राहुर् मनीषिणः ।

यज्ञदानतपःकर्म, न त्याज्यम् इति चापरे ॥३॥

कुछ महात्मा लोग कहते हैं कि सभी कर्म दोषयुक्त होने के कारण त्याज्य हैं और दूसरे लोगों का कहना है कि यज्ञ, दान और तप त्याज्य नहीं हैं. (१८.०३)

निश्चयं शृणु मे तत्र, त्यागे भरतसत्तम ।

त्यागो हि पुरुषव्याघ्र, त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥४॥

हे अर्जुन, त्याग के विषय में अब तुम मेरा निर्णय सुनो. हे पुरुषश्रेष्ठ, त्याग भी तीन प्रकार का कहा गया है. (१८.०४)

यज्ञदानतपःकर्म, न त्याज्यं कार्यम् एव तत् ।

यज्ञो दानं तपश्चैव, पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥

यज्ञ, दान और तप का त्याग नहीं करना चाहिए, उन्हें अवश्य करना चाहिए, क्योंकि यज्ञ, दान और तप साधकों के अन्तःकरण को पवित्र करते हैं. (१८.०५)

एतान्य् अपि तु कर्माणि, सद्गुणं त्यक्त्वा फलानि च ।

कर्तव्यानीति मे पार्थ, निश्चितं मतम् उत्तमम् ॥६॥

हे पार्थ, इन कर्मों को भी फल की आसक्ति त्यागकर ही करना चाहिए, ऐसा मेरा दृढ़ उत्तम मत है. (१८.०६)

त्याग के तीन प्रकार

नियतस्य तु संन्यासः, कर्मणो नोपपद्यते ।

मोहात् तस्य परित्यागस्, तामसः परिकीर्तितः ॥७॥

हे अर्जुन, कर्तव्यकर्म का त्याग उचित नहीं है। भ्रमवश उसका त्याग करना तामसिक त्याग कहा गया है। (१८.०७)

दुःखम् इत्येव यत् कर्म, कायक्लेशभयात् त्यजेत् ।

स कृत्वा राजसं त्यागं, नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥

सभी कर्म दुःखरूप है— ऐसा समझकर यदि कोई शारीरिक कष्ट एथवा कठिनाई के भय से अपने कर्तव्यकर्म को त्याग दे, तो वह ऐसा राजसिक त्याग करके त्याग के फल को प्राप्त नहीं करता। (१८.०८)

कार्यम् इत्येव यत् कर्म, नियतं क्रियतेऽर्जुन ।

सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव, स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९॥

“कर्म करना कर्तव्य है” ऐसा समझकर, हे अर्जुन, जो नियत कर्म फल की आसक्ति त्यागकर किया जाता है, वही सात्त्विक त्याग माना गया है। (१८.०९)

नवधा त्याग

न द्वेष्य् अकुशलं कर्म, कुशले नानुषज्जते ।

त्यागी सत्त्वसमाविष्टो, मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

जो मनुष्य अशुभ कर्म से द्वेष नहीं करता तथा शुभ कर्म में आसक्त नहीं होता, वही सतोगुण से सम्पन्न, संशयरहित, बुद्धिमान् और त्यागी समझा जाता है। (१८.१०)

न हि देहभृता शक्यं, त्यक्तुं कर्माण्य् अशेषतः ।

यस् तु कर्मफलत्यागी, स त्यागीत्य् अभिधीयते ॥११॥

18.11 मनुष्य के लिए सम्पूर्णरूप से सभी कर्मों का त्याग करना संभव नहीं है, अतः जो सभी कर्मों के फल (में आसक्ति) का त्याग करता है, वही त्यागी कहा जाता है। (१८.११)**

अनिष्टम् इष्टं मिश्रं च, त्रिविधं कर्मणः फलम् ।

भवत्य् अत्यागिनां प्रेत्य, न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

कर्मों के तीन प्रकार के फल— अच्छा बुरा और मिश्रित— मरने के बाद कर्मफल में आसक्ति का त्याग न करनेवाले को मिलते हैं, परन्तु त्यागी को कभी नहीं। (१८.१२)

कर्म के पांच कारण

पञ्चैतानि महाबाहो, कारणानि निबोध मे ।

सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि, सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता, करणं च पृथग्विधम् ।

विविधाश्च पृथक्चेष्टा, दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

18.13 हे महाबाहो, सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार सभी कर्मों की सिद्धि के लिए ये पांच कारण— स्थूल शरीर, प्रकृति के गुणरूपी कर्ता, पांच प्राण, इन्द्रियां तथा इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवगण— बताए गए हैं। इसे तुम मुझसे भली भांति जानो। (१८.१३-१४)**

शरीरवाङ्मनोभिर् यत् , कर्म प्रारभते नरः ।

न्याय्यं वा विपरीतं वा, पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

मनुष्य अपने मन, वाणी और शरीर के द्वारा जो कुछ भी उचित या अनुचित कर्म करता है, उसके ये पांच कारण हैं। (१८.१५)

तत्रैवं सति कर्तारम् , आत्मानं केवलं तु यः ।

पश्यत्य् अकृतबुद्धित्वान् , न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

अतः जो केवल अपने-आपको (अर्थात् अपने शरीर या आत्माको) ही कर्ता मान बैठता है, वह अज्ञानी मनुष्य अशुद्ध बुद्धि के कारण नहीं समझता। (१८.१६)

यस्य नाहंकृतो भावो, बुद्धिर् यस्य न लिप्यते ।

हत्वापि स इमौलु लोकान् , न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

18.17 जिस मनुष्य के अन्तःकरण में “मैं कर्ता हूँ” का भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि (कर्मफल की आसक्ति से) लिप्त नहीं है, वह इन सारे प्राणियों को मारकर भी वास्तव में न किसी को मारता है और न पाप से बंधता है। (१८.१७)**

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता, त्रिविधा कर्मचोदना ।

करणं कर्म कर्तेति, त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

कार्य का ज्ञान, ज्ञान का विषय (ज्ञेय) और ज्ञाता— ये तीन कर्म की प्रेरणा हैं; तथा करण अर्थात् इन्द्रियां, क्रिया और कर्ता अर्थात् प्रकृति के तीनों गुण— ये तीन कर्म के अंग हैं। (१८.१८)

ज्ञान के तीन प्रकार

ज्ञानं कर्म च कर्ता च, त्रिधैव गुणभेदतः ।

प्रोच्यते गुणसंख्याने, यथावच् च्छृणु तान्य् अपि ॥१९॥

सांख्यमत के अनुसार ज्ञान, कर्म और कर्ता भी गुणों के भेद से तीन प्रकार के माने गए हैं। उनको भी तुम मुझसे भली भांति सुनो। (१८.१९)

सर्वभूतेषु येनैकं, भावम् अव्ययम् ईक्षते ।

अविभक्तं विभक्तेषु तज् , ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य विभक्त रूप में स्थित समस्त प्राणियों में एक ही अविभक्त और अविनाशी परमात्मा को समभाव से स्थित देखता है, उस ज्ञान को तुम सात्त्विक जानो। (११.१३, १३.१६ भी देखें।) (१८.२०)

पृथक्त्वेन तु यज् ज्ञानं, नानाभावान् पृथग्विधान् ।

वेत्ति सर्वेषु भूतेषु, तज् ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य विभिन्न प्राणियों के अस्तित्व में अनेकता का अनुभव करता है, उस ज्ञान को तुम राजसिक समझो. (१८.२१)

यत् तु कृत्स्नवद् एकस्मिन् , कार्ये सक्तम् अहैतुकम् ।

अतत्त्वार्थवद् अल्पं च, तत् तामसम् उदाहृतम् ॥२२॥

और जिस मूर्खतापूर्ण, तुच्छ और बेकार ज्ञान के द्वारा मनुष्य शरीर को ही सबकुछ मानकर उसमें आसक्त हो जाता है, वह ज्ञान तामसिक है. (१८.२२)

कर्म के तीन प्रकार

नियतं सङ्गरहितम् , अरागद्वेषतः कृतम् ।

अफलप्रेप्सुना कर्म, यत् तत् सात्त्विकम् उच्यते ॥२३॥

जो कर्म (शास्त्रविधि से) नियत और कर्मफल की इच्छा और आसक्ति से रहित है तथा बिना राग-द्वेष से किया गया है, वह (कर्म) सात्त्विक कहा जाता है. (१८.२३)

यत् तु कामेप्सुना कर्म, साहंकारेण वा पुनः ।

क्रियते बहुलायासं, तद् राजसम् उदाहृतम् ॥२४॥

जो कर्म फल की कामनावाले, अहंकारी मनुष्य द्वारा बहुत परिश्रम से किया जाता है, वह राजसिक कहा गया है. (१८.२४)

अनुबन्धं क्षयं हिंसाम् , अनवेक्ष्य च पौरुषम् ।

मोहाद् आरभ्यते कर्म, यत् तत् तामसम् उच्यते ॥२५॥

जो कर्म परिणाम, अपनी हानि, परपीड़ा और अपनी सामर्थ्य को न विचारकर केवल भ्रमवश किया जाता है, वह कर्म तामसिक कहलाता है. (१८.२५)

कर्ता के तीन प्रकार

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी, धृत्युत्साहसमन्वितः ।

सिद्धोऽसिद्धोर् निर्विकारः, कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

जो कर्ता आसक्ति और अहंकार से रहित तथा धैर्य और उत्साह से युक्त एवं कार्य की सफलता और असफलता में निर्विकार रहता है, वह कर्ता सात्त्विक कहा जाता है. (१८.२६)

रागी कर्मफलप्रेप्सुर , लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।

हर्षशोकान्वितः कर्ता, राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

राग-द्वेष से युक्त, कर्मफल का इच्छुक, लोभी तथा दूसरों को कष्ट देनेवाला, अपवित्र विचारवाला और हर्ष-शोक से युक्त कर्ता राजसिक कहा जाता है. (१८.२७)

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः, शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।

विषादी दीर्घसूत्री च, कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

अयुक्त, असभ्य, हठी, धूर्त, द्वेषी, आलसी, उदास और दीर्घसूत्री कर्ता तामसिक कहा जाता है. (१८.२८)

बुद्धि के तीन प्रकार

बुद्धेर् भेदं धृतेश् चैव, गुणतस् त्रिविधं शृणु ।

प्रोच्यमानम् अशेषेण, पृथक्त्वेन धनंजय ॥२९॥

हे अर्जुन, अब तुम मुझसे गुणों के अनुसार बुद्धि के और संकल्प के भी तीन भेद पूर्ण रूप से अलग-अलग सुनो. (१८.२९)

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च, कार्याकार्ये भयाभये ।

बन्धं मोक्षं च या वेत्ति, बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्ति को, कर्तव्य और अकर्तव्य को, भय और अभय को तथा मुक्ति और बन्धन को यथार्थ रूप से जानती है, वह बुद्धि सात्त्विक है. (१८.३०)

यया धर्मम् अधर्मं च, कार्यं चाकार्यम् एव च ।

अयथावत् प्रजानाति, बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥

हे पार्थ, जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य धर्म और अधर्म को तथा कर्तव्य और अकर्तव्य को ठीक तरह से नहीं जानता है, वह बुद्धि राजसिक है. (१८.३१)

अधर्मं धर्मम् इति या, मन्यते तमसावृता ।

सर्वार्थान् विपरीतांश्च, बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

हे अर्जुन, जो बुद्धि अज्ञान के कारण अधर्म को ही धर्म मान लेती है, इसी तरह सभी चीजों को उल्टा समझ लेती है, वह बुद्धि तामसिक है. (१८.३२)

संकल्प के तीन प्रकार और मानव जीवन के चार लक्ष्य

धृत्या यया धारयते, मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।

योगेनाव्यभिचारिण्या, धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥

जिस संकल्प के द्वारा केवल परमात्मा को ही जानने के ध्येय से मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है, वह संकल्प सात्त्विक है. (१८.३३)

यया तु धर्मकामार्थान् , धृत्या धारयतेऽर्जुन ।

प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी, धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

हे पृथानन्दन, फल की इच्छावाला मनुष्य जिस संकल्प के द्वारा धर्म, अर्थ और काम को अत्यन्त आसक्तिपूर्वक धारण करता है, वह संकल्प राजसिक है. (१८.३४)

यया स्वप्नं भयं शोकं, विषादं मदम् एव च ।

न विमुञ्चति दुर्मेधा, धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

हे पार्थ, बुद्धिहीन मनुष्य जिस धारणा के द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता, दुःख और लापरवाही को नहीं छोड़ता, वह संकल्प तामसिक कहा जाता है. (१८.३५)

आनन्द के तीन प्रकार

सुखं त्व् इदानीं त्रिविधं, शृणु मे भरतर्षभ ।

अभ्यासाद् रमते यत्र, दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

हे भरतश्रेष्ठ, अब तुम तीन प्रकार के सुख को भी मुझसे सुनो। मनुष्य को आध्यात्मिक साधना से प्राप्त सुख से सभी दुःखों का अन्त हो जाता है। (१८.३६)

यत् तद् अग्रे विषम् इव, परिणामेऽमृतोपमम् ।

तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तम्, आत्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

ऐसे आत्मबुद्धिरूपी प्रसाद से उत्पन्न सुख को जो आरम्भ में विष की तरह, परन्तु परिणाम में अमृत के समान होता है सात्त्विक सुख कहते हैं। (१८.३७)

विषयेन्द्रियसंयोगाद्, यत् तद् अग्रेऽमृतोपमम् ।

परिणामे विषम् इव, तत् सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

इन्द्रियों के भोग से उत्पन्न सुख को, जो भोग के समय तो अमृत के समान लगता है, परन्तु जिसका परिणाम विष की तरह होता है, राजसिक सुख कहा गया है। (५.२२ भी देखें।)

(१८.३८)

यद् अग्रे चानुबन्धे च, सुखं मोहनम् आत्मनः ।

निद्रालस्यप्रमादोत्थं, तत् तामसम् उदाहृतम् ॥३९॥

निद्रा, आलस्य और लापरवाही से उत्पन्न सुख को, जो भोगकाल में तथा परिणाम में भी मनुष्य को भ्रमित करनेवाला होता है, तामसिक सुख कहा गया है। (१८.३९)

न तद् अस्ति पृथिव्यां वा, दिवि देवेषु वा पुनः ।

सत्त्वं प्रकृतिजैर् मुक्तं, यद् एभिः स्यात् त्रिभिर् गुणैः ॥४०॥

पृथ्वी पर अथवा स्वर्ग के देवताओं में कोई भी प्राणी प्रकृति के इन तीन गुणों से मुक्त होकर नहीं रह सकता है। (१८.४०)

व्यक्ति की योग्यता के अनुसार श्रम का विभाजन

ब्राह्मणक्षत्रियविशां, शूद्राणां च परंतप ।

कर्माणि प्रविभक्तानि, स्वभावप्रभवैर् गुणैः ॥४१॥

हे अर्जुन, चार वर्णों— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र— में कर्म का विभाजन भी मनुष्यों के गुणों से उत्पन्न स्वभाव के अनुसार ही किया गया है। (४.१३ भी देखें।) (१८.४१)

शमो दमस् तपः शौचं, क्षान्तिर् आर्जवम् एव च ।

ज्ञानं विज्ञानम् आस्तिक्यं, ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

शम, दम, तप, शौच, सहिष्णुता, सत्यवादिता, ज्ञान, विवेक और आस्तिक भाव— ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं। (१८.४२)

शौर्यं तेजो धृतिर् दाक्ष्यं, युद्धे चाप्य् अपलायनम् ।

दानम् ईश्वरभावश्च, क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

शौर्य, तेज, दृढ़ संकल्प, दक्षता, युद्ध से न भागना, दान देना और शासन करना— ये सब क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं। (१८.४३)

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं, वैश्यकर्म स्वभावजम् ।

परिचर्यात्मकं कर्म, शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

खेती, गौपालन तथा व्यापार— ये सब वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं तथा शूद्रका स्वाभाविक कर्म सेवा करना है। (१८.४४)

कर्तव्य, साधना, और भक्ति से मोक्ष की प्राप्ति

स्वे स्वे कर्मण्य् अभिरतः, संसिद्धिं लभते नरः ।

स्वकर्मनिरतः सिद्धिं, यथा विन्दति तच् दृष्टुं ॥४५॥

मनुष्य अपने-अपने स्वाभाविक कर्म करते हुए परम सिद्धि को कैसे प्राप्त कर सकता है, उसे तुम मुझसे सुनो। (१८.४५)

यतः प्रवृत्तिर् भूतानां, येन सर्वम् इदं ततम् ।

स्वकर्मणा तम् अभ्यर्च्य, सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

18.46** जिस परब्रह्म परमात्मा से समस्त प्राणियों की उत्पत्ति होती है और जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है, उसका अपने कर्म के द्वारा पूजन करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त होता है। (९.२७, १२.१० भी देखें।) (१८.४६)

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः, परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।

स्वभावनियतं कर्म, कुर्वन् नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥

अपना गुणरहित सहज और स्वाभाविक कार्य आत्मविकास के लिए दूसरे अच्छे अस्वाभाविक कार्य से श्रेयस्कर है, क्योंकि (निष्काम भाव से) अपना स्वाभाविक कार्य करने से मनुष्य को पाप नहीं लगता। (३.३५ भी देखें।) (१८.४७)

सहजं कर्म कौन्तेय, सदोषम् अपि न त्यजेत् ।

सर्वारम्भा हि दोषेण, धूमेनाग्निर् इवावृताः ॥४८॥

हे अर्जुन, अपने दोषयुक्त सहज स्वाभाविक कर्म का भी त्याग नहीं करना चाहिए; क्योंकि जैसे धुएँ से अग्नि आवृत होती है, वैसे ही सभी कर्म किसी-न-किसी दोष से युक्त होते हैं। (१८.४८)

असक्तबुद्धिः सर्वत्र, जितात्मा विगतस्पृहः ।

नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां, संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

आसक्ति-रहित, इच्छा-रहित और जितेन्द्रिय मनुष्य संन्यास (अर्थात् सकाम कर्मों के परित्याग) के द्वारा (कर्म के बन्धन से मुक्त होकर) परम नैष्कर्म्य-सिद्धि प्राप्त करता है। (१८.४९)

(१८.४९)

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म, तथाप्नोति निबोध मे ।

समासेनैव कौन्तेय, निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

हे कौन्तेय, नैष्कर्म्य-सिद्धि को प्राप्त हुआ साधक किस प्रकार तत्त्वज्ञान की परानिष्ठा, परमपुरुष, को प्राप्त होता है, उसे भी मुझसे संक्षेप में सुनो. (१८.५०)

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो, धृत्यात्मानं नियम्य च ।

शब्दादीन् विषयांस् त्यक्त्वा, रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी, यतवाक्कायमानसः ।

ध्यानयोगपरो नित्यं, वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥

अहंकारं बलं दर्पं, कामं क्रोधं परिग्रहम् ।

विमुच्य निर्ममः शान्तो, ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

विशुद्ध बुद्धि से युक्त, मन के दृढ़ संकल्प द्वारा आत्मसंयम कर, शब्दादि विषयों को त्यागकर, राग-द्वेष से रहित होकर, एकान्त में रहकर, हल्का, सात्त्विक और नियमित भोजन करके, अपने वाणी, कर्मेन्द्रियों और मन को संयत कर, परमात्मा के ध्यान में सदैव लगा हुआ, दृढ़ वैराग्य को प्राप्त, अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और स्वामित्व को त्यागकर, ममत्वभाव से रहित और शान्त मनुष्य परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के योग्य बन जाता है. (१८.५१-५३)

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा, न शोचति न काङ्क्षति ।

समः सर्वेषु भूतेषु, मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

उपरोक्त ब्रह्मभूत अवस्था प्राप्त, प्रसन्न चित्तवाला साधक न तो किसी के लिए शोक करता है, न किसी वस्तु की इच्छा ही करता है. ऐसा समस्त प्राणियों में समभाववाला साधक मेरी पराभक्ति को प्राप्त करता है. (१८.५४)

भक्त्या माम् अभिजानाति, यावान् यश् चास्मि तत्त्वतः ।

ततो माम् तत्त्वतो ज्ञात्वा, विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

18.55 श्रद्धा और भक्ति (अर्थात् पराभक्ति, ज्ञान) के द्वारा ही मैं तत्त्व से जाना जा सकता हूँ कि मैं कौन हूँ और क्या हूँ. मुझे तत्त्व से जानने के पश्चात् तत्काल ही मनुष्य मुझमें प्रवेश कर (मत्स्वरूप बन) जाता है. (५.१९ भी देखें.) (१८.५५)**

सर्वकर्माण्य् अपि सदा, कुर्वाणो मद्ब्यपाश्रयः ।

मत्प्रसादाद् अवाप्नोति, शाश्वतं पदम् अब्ययम् ॥५६॥

मेरा आश्रय लेनेवाला (कर्मयोगी भक्त) सदा सब कर्म करता हुआ भी मेरी कृपा से शाश्वत अविनाशी पद को प्राप्त करता है. (१८.५६)

चेतसा सर्वकर्माणि, मयि संन्यस्य मत्परः ।

बुद्धियोगम् उपाश्रित्य, मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

समस्त कर्मों को श्रद्धा और भक्ति-पूर्वक मुझे अर्पण कर, मुझे अपना परम लक्ष्य मानकर मुझपर ही भरोसा रख तथा ज्ञान और विवेक का आश्रय लेकर निरन्तर मुझमें ही चित्त लगा. (१८.५७)

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि, मत्प्रसादात् तरिष्यसि ।

अथ चेत् त्वम् अहंकारान्, न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥

मुझमें चित्त लगाकर तुम मेरी कृपा से सम्पूर्ण विघ्नों को पार कर जाओगे और यदि तुम अहंकारवश मेरे इस उपदेश को नहीं सुनोगे, तो तुम्हारा पतन होगा. (१८.५८)

कर्मबन्धन और स्वतंत्र इच्छा-शक्ति

यद् अहंकारम् आश्रित्य, न योत्स्य इति मन्यसे ।

मित्यैष व्यवसायस् ते, प्रकृतिस् त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

यदि अहंकारवश तुम ऐसा सोच रहे हो कि मैं यह युद्ध नहीं करूंगा, तो तुम्हारा ऐसा सोचना मिथ्या है, क्योंकि तुम्हारा स्वभाव तुम्हें बलात् युद्ध में लगा देगा. (१८.५९)

स्वभावजेन कौन्तेय, निबद्धः स्वेन कर्मणा ।

कर्तुं नेच्छसि यन् मोहात्, करिष्यस्य अवशोऽपि तत् ॥६०॥

हे अर्जुन, तुम अपने स्वाभाविक कर्म (के संस्काररूपी बन्धनों) से बंधे हो, अतः भ्रमवश जिस काम को तुम नहीं करना चाहते, उसे भी तुम विवश होकर करोगे. (१८.६०)

ईश्वरः सर्वभूतानां, हृद्देशोऽर्जुन तिष्ठति ।

भ्रामयन् सर्वभूतानि, यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

18.61 हे अर्जुन, ईश्वर (अर्थात् श्रीकृष्ण ही) सभी प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित होकर अपनी माया के द्वारा प्राणियों को यन्त्र पर आरूढ़ कठपुतली की तरह घुमाते रहता है.**

तम् एव शरणं गच्छ, सर्वभावेन भारत ।

तत्प्रसादात् परां शान्तिं, स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

हे भारत, तुम पराभक्ति भाव से उस ईश्वर की ही शरण में जाओ. उसकी कृपा से तुम परम शान्ति और शाश्वत परमधाम को प्राप्त करोगे. (१८.६२)

इति ते ज्ञानम् आख्यातं, गुह्याद् गुह्यतरं मया ।

विमृश्यैतद् अशेषेण, यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

मैंने गुह्य से भी गुह्यतर ज्ञान तुमसे कहा है. अब इसपर अच्छी तरह से विचार करने के बाद तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा करो. (१८.६३)

समर्पण, प्रभुप्राप्ति का परम मार्ग

सर्वगुह्यतमं भूयः, शृणु मे परमं वचः ।

इष्टोऽसि मे दृढम् इति, ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

मेरे इस समस्त गुह्यों में गुह्यतम परम उपदेश को तुम एक बार फिर सुनो. तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, इसलिए मैं तुम्हारे हित की बात कहूंगा. (१८.६४)

मन्मना भव मद्रक्तो, मघाजी मां नमस्कुरु ।

माम् एवैष्यसि सत्यं ते, प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

तुम मुझमें अपना मन लगाओ, मेरे भक्त बनो, मेरी पूजा करो, मुझे नमस्कार करो। ऐसा करने से तुम मुझे अवश्य ही प्राप्त करोगे। मैं तुम्हें यह सत्य वचन देता हूँ, क्योंकि तुम मेरे प्रिय मित्र हो। (१८.६५)

सर्वधर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणं ब्रज ।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो, मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

18.66*** सभी कर्मों में अहंकार (मैं) और कर्मफल में आसक्ति (मेरा) का परित्याग कर तुम एक मेरी ही शरण में आ जाओ। शोक मत करो, मैं तुम्हें समस्त पापों (अर्थात् कर्म के बन्धनों) से मुक्त कर मोक्ष प्रदान करूँगा। (१८.६६)

अहंकार से हम सरलता से नहीं छूट सकते। अहंकार को लड़कर नहीं जीता जा सकता जिस प्रकार अंधकार से नहीं लड़ा जा सकता। अहंकार हमारे जीवन में कदम-कदम पर व्याप्त रहता है। ज्ञान अर्थात् पराभक्ति ही एकमात्र साधन है जिससे अहंकार की दीवार को --- जो ईश्वर को जीव से अलग किये रखता है --- तोड़ा जा सकता है। जब यह मानसिक दीवार भंग हो जाती है तब यह स्पष्ट हो जाता है कि “जीवात्मा ही ब्रह्म है” (अयम् आत्मा ब्रह्म, मा.उ. 0२ अथर्ववेद में) जिस प्रकार घड़ा टूटने पर ही घटाकाश और महाकाश एक हो जाता है। संत ज्ञानेश्वर ऐसे दृढ़ विश्वास को --- कि जगत् में ब्रह्म के सिवा और कुछ भी नहीं है (गीता ७.०७, ७.१९) तथा जीव, जगत् और जगदीश अभिन्न हैं ---शरणागति मानते हैं, अपना अस्तित्व तथा अपनी इच्छा (न्दिर्विदुःअल इस्तिअन्धे अन्ध इल्लि) का परित्याग कर केवल परमात्मा पर ही निर्भर रहना शरणागति कहलाता है, सबकुछ वही है और सब उसी का है। हम सब उसके निमित्तमात्र हैं।

गीता के श्लोक: 7.19 में भगवान कहते हैं --- अनेक जन्मों के बाद ब्रह्मज्ञान प्राप्तकर मनुष्य मेरी शरण में आता है; अर्थात् मुझे प्राप्त करता है, ऐसा महात्मा बहुत दुर्लभ है। (७.१९)

अतः ईश्वर की शरणागति का अर्थ ईश्वर को प्राप्त करना है, जिसे मोक्ष भी कहते हैं।

ईश्वर को पाने के लिए सबसे पहले हमें अज्ञान-जनित अहंकार (अर्थात् (मैं) और (मेरा)) की दीवार को तोड़ना होगा --- जो जीव को ईश्वर से अलग किये रखता है। इस दीवार को ब्रह्मज्ञान से तोड़ा जाता है। यह आसान नहीं है। अहंकार की दीवार टूटने में अनेक जन्म लग जाता है। अहंकार की दीवार टूटते ही हमें दृढ़ विश्वास हो जाता है कि यह सारा संसार भगवान का ही विस्तार है। संसार में भगवान के सिवा और कुछ भी नहीं है। अहंकार का विनाश होते ही जीव ईश्वर को प्राप्त करता है। इसे शरणागति की प्राप्ति या जीवन-मुक्ति भी कहते हैं। शरणागति प्राप्त ब्रह्मज्ञानी केवल परमात्मा पर ही निर्भर रहता है। उसका कोई संकल्प या विकल्प नहीं होता है। वह पूर्णरूप से जेही विधि राखे राम तेही विधि रहकर सदा प्रसन्न रहता है।

परमात्मा की परम सेवा तथा सर्वोत्तम दान

इदं ते नातपस्काय, नाभक्ताय कदाचन ।

न चाशुश्रूषवे वाच्यं, न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

(गीता के) इस गुह्यतम ज्ञान को तपरहित और भक्तिरहित व्यक्तियों को, अथवा जो इसे सुनना नहीं चाहते हों, अथवा जिन्हें मुझमें श्रद्धा न हो; उन लोगों से कभी नहीं कहना चाहिए। (१८.६७)

य इमं परमं गुह्यं, मद्रक्तेषु अभिधास्यति ।

भक्तिं मयि परां कृत्वा, माम् एवैष्यत्य् असंशयः ॥६८॥

न च तस्मान् मनुष्येषु, कश्चिन् मे प्रियकृतमः ।

भविता न च मे तस्माद्, अन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

18.68** जो व्यक्ति इस परम गुह्य ज्ञान का मेरे भक्तजनों के बीच प्रचार और प्रसार करेगा, वह मेरी यह सर्वोत्तम पराभक्ति करके निस्सन्देह मुझे प्राप्त होगा। उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला कोई मनुष्य नहीं होगा; और न मेरा उससे ज्यादा प्रिय इस पृथ्वी पर कोई दूसरा होगा। (१८.६८-६९)

गीता जी की महिमा

अध्येष्यते च य इमं, धर्म्यं संवादम् आवयोः ।

ज्ञानयज्ञेन तेनाहम्, इष्टः स्याम् इति मे मतिः ॥७०॥

जो व्यक्ति हम दोनों के इस धर्ममय संवाद का अध्ययन करेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञ से पूजित होऊँगा— यह मेरा वचन है। (१८.७०)

श्रद्धावान् अनसूयश्च, शृणुयाद् अपि यो नरः ।

सोऽपि मुक्तः शुभाल् लोकान्, प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

तथा जो श्रद्धापूर्वक बिना आलोचना किए इसे सुनेगा, वह भी सम्पूर्ण पापों से मुक्त होकर पुण्यवान् लोगों के शुभ लोकों को प्राप्त करेगा। (१८.७१)

कच्चिद् एतच् छ्रुतं पार्थ, त्वयैकाग्रेण चेतसा ।

कच्चिद् अज्ञानसंमोहः, प्रनष्टस् ते धनंजय ॥७२॥

हे पार्थ, क्या तुमने एकाग्रचित्त होकर इसे सुना? और हे धनंजय, क्या तुम्हारा अज्ञानजनित भ्रम पूर्ण रूप से नष्ट हुआ? (१८.७२)

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर् लब्धा, त्वत्प्रसादान् मयाऽच्युत ।

स्थितोऽस्मि गतसंदेहः, करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

अर्जुन बोले— हे अच्युत, आपकी कृपा से मेरा भ्रम दूर हो गया है और मुझे ज्ञान प्राप्त हो गया है. अब मैं संशयरहित हो गया हूँ और मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा. (१८.७३)

संजय उवाच

इत्थं अहं वासुदेवस्य, पार्थस्य च महात्मनः ।

संवादम् इमम् अश्रौषम्, अद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

संजय बोले— इस प्रकार मैंने भगवान् श्रीकृष्ण और महात्मा अर्जुन का यह अद्भुत और रोमांचकारी संवाद सुना. (१८.७४)

व्यासप्रसादाच्च्युतवान्, एतद् गुह्यम् अहं परम् ।

योगं योगेश्वरात् कृष्णात्, साक्षात् कथयतः स्वयम् ॥७५॥

व्यासजी की कृपा से (दिव्य दृष्टि पाकर) मैंने इस परम गुह्य ज्ञान को (अर्जुन से कहते हुए) साक्षात् योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान् से सुना है.

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य, संवादम् इमम् अद्भुतम् ।

केशवार्जुनयोः पुण्यं, हृष्यामि च मुहुर् मुहुः ॥७६॥

हे राजन्, भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन के इस पवित्र (अर्थात् कल्याणकारी) और अद्भुत संवाद को बार-बार स्मरण करके मैं बारम्बार हर्षित होता हूँ. (१८.७६)

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य, रूपम् अत्यद्भुतं हरेः ।

विस्मयो मे महान् राजन्, हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

हे राजन्, श्रीहरि के अत्यन्त अद्भुत रूप को भी बार-बार स्मरण करके मुझे अत्यन्त आश्चर्य होता है और मैं बारम्बार हर्षित होता हूँ. (१८.७७)

संतुलित जीवन के लिए आत्मज्ञान और कर्मयोग दोनों की आवश्यकता

यत्र योगेश्वरः कृष्णो, यत्र पार्थो धनुर्धरः ।

तत्र श्रीर विजयो भूतिर, ध्रुवा नीतिर मतिर मम ॥७८॥

18.78 जहां भी, जिस देश या घर में, (धर्म अर्थात् शास्त्रधारी) योगेश्वर श्रीकृष्ण तथा (धर्मरक्षा एवं कर्मरूपी) शस्त्रधारी अर्जुन दोनों होंगे, वहीं श्री, विजय, विभूति और नीति आदि सदा विराजमान रहेंगी. ऐसा मेरा अटल विश्वास है. (१८.७८)**

इस प्रकार मोक्षसंन्यासयोग नामक अठारहवां अध्याय सम्पूर्ण हुआ.

उपसंहार

भगवान् श्रीकृष्ण का अंतिम संदेश

विश्व में धर्म-संस्थापना के दुरूह कार्य को सम्पन्न करने के बाद इस भूलोक कर्मक्षेत्र से प्रस्थान करने की पूर्वसंध्या पर भगवान् कृष्ण ने अपने परमप्रिय भक्त और अनुगामी बन्धु उद्धव को अपना अन्तिम संदेश दिया. एक हजार श्लोकों से भी अधिक लम्बे “उद्धव गीता” के उपदेश के उपरान्त उद्धवजी ने कहा— हे प्रभो, मेरे विचार में अधिकतर लोगों के लिए उस योग का पालन निश्चय ही बहुत कठिन है, जिसका वर्णन आपने पहले अर्जुन के और अब मेरे समक्ष प्रस्तुत किया है, क्योंकि उसके लिए बेलगाम इन्द्रियों पर नियंत्रण पाना अत्यन्त आवश्यक है. कृपया मुझे प्रभुप्राप्ति का सरल और संक्षिप्त मार्ग बताएं. उद्धवजी की प्रार्थना पर भगवान् कृष्ण ने आधुनिक युग के लिए आत्मबोध के जिन अनिवार्य तत्त्वों का वर्णन किया, वे निम्नलिखित हैं—

(१) बिना स्वार्थपूर्ण उद्देश्य के मेरे (प्रभु) लिए अपनी क्षमता के अनुरूप अपने कर्तव्य का पालन करो. किसी कार्य को प्रारम्भ करने से पहले, कार्य सम्पन्न होने के बाद और निष्क्रिय होते समय भी सदा मेरा स्मरण करो. (२) मनसा-वाचा-कर्मणा सब जीवों में मेरा ही दर्शन करने का अभ्यास करो और मन से सब के सम्मुख झुककर प्रणाम करो. (३) अपनी प्रसुप्त कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत् करो और मन, इन्द्रियों तथा श्वासों और भावों की क्रियाओं के माध्यम से प्रतिक्षण अपने भीतर भगवान् की शक्ति को देखो, जो तुम्हें मात्र माध्यम के रूप में प्रयोग कर सतत सब कार्य कर रही है.

योगी मुमताञ्जली कहते हैं— जो व्यक्ति अपने को पूर्णतः प्रकृति मां का लीलाक्षेत्र और माध्यम मात्र जानता है, वह सत्य का ज्ञाता है. विश्व और मानव-मन के वास्तविक तत्त्वबोध से सब इच्छाओं का शमन ही आत्मबोध है. हरिहरानन्द गिरि कहते हैं: प्रभु सबमें है और सर्वोपरि है. अतः यदि तुम्हें प्रभु को पाना है, तो तुम्हें उसकी खोज हर अणु में, हर पदार्थ में, हर शारीरिक क्रिया में और हर मानव में समर्पण की भावना से करनी चाहिए.

मुनि जी कहते हैं— हमें भगवान् का माली होना चाहिए. ध्यान से उपवन की देखभाल करते हुए कभी भी हमें मोहग्रस्त नहीं होना चाहिए कि क्या पुष्पित पल्लवित होगा, क्या फल देगा और क्या सूख जाएगा, मर जाएगा. किसी वस्तु की अपेक्षा कुण्ठा की जननी है और स्वीकृति शान्ति देती है. भगवान् कृष्ण ने अन्य शास्त्रग्रन्थों में भी प्रभुप्राप्ति के तात्विक ज्ञान का सारांश इस प्रकार दिया है—

परमप्रभु कृष्ण ने कहा— जो मुझ परमपुरुष को जानना चाहता है, उसे केवल यह समझना चाहिए कि मैं सृष्टि के पहले भी विद्यमान था, मैं सृष्टि में विद्यमान हूँ और प्रलय के बाद भी हूँगा. शेष अस्तित्व मेरी माया के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है. मैं सृष्टि में विद्यमान हूँ और सृष्टि के बाहर भी. मैं सर्वव्यापी परमप्रभु हूँ, जो सर्वत्र, सब वस्तुओं में और सब कालों में विद्यमान है.

हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत्

